कृपया यह ग्रन्थ नीचे निर्देशित तिथि के पूर्व अथवा उक्त तिथि तक वापस कर दें। विलम्ब से लौटाने पर प्रतिदिन दस पैसे विलम्ब शुल्क देना होगा।

श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीशाण्डिल्यशतसूत्रीयं

भक्तिमीमांसादर्शनम् ।

संस्कृतव्याख्यया भाषाव्याख्यया च सहितम् ।

गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास,

लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर छापाखाना,

कल्याण–मुंबई.
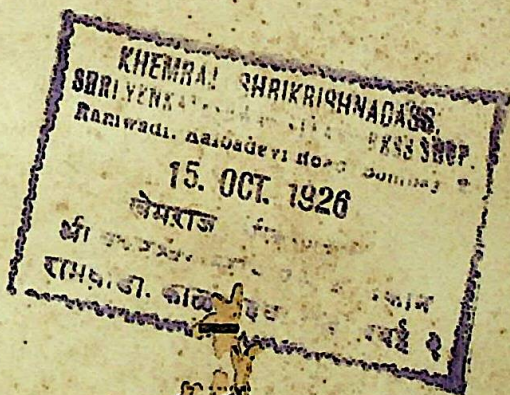
श्रीगणेशाय नमः ।

श्रीशाण्डिल्यशतसूत्रीयं
भक्तिमीमांसादर्शनम् ।

पं० मुरलीधरशर्मराजवैद्यविरचितया संस्कृत-
व्याख्यया भाषाव्याख्यया च सहितम् ।

तदिदम्

श्रीकृष्णदासात्मज-गङ्गाविष्णोः
अध्यक्ष " लक्ष्मीवेङ्कटेश्वर " मुद्रणालये
मैनेजर पं० शिवदुलारे वाजपेयीत्यनेन स्वाम्यर्थं
मुद्रयित्वा प्रकाशितम् ।

शकाब्दाः १८३८, संवत् १९७३.

कल्याण-मुंबई.

॥ श्रीः ॥

ॐ तत्सत्

श्रीशांडिल्यशतसूत्रीयं

भक्तिमीमांसादर्शनम् ।

प्रथमोऽध्यायः ॥ १ ॥

अथातो भक्तिजिज्ञासा ॥ १ ॥

मंगलाचरणम् ।

श्रीराधावल्लभं नत्वा मुरलीधरशर्मणा ।
शाण्डिल्यभक्तिसूत्राणां सम्यग्व्याख्या विरच्यते ॥ १ ॥

सं० टी०—अथेति पूर्वमीमांसाशास्त्रोक्तकर्मकाण्डाधिकारानंतरं अतः अस्मात् भक्तिजिज्ञासा कर्तव्येति शेषेणान्वयः । जिज्ञासा ज्ञातुमिच्छा विचारश्च । अपरे तु अथशब्दं अधिकारार्थे मन्यंते नानंतर्यार्थे श्रीप्रह्लादादेः कर्मकांडाकरणेऽपि भक्तिसद्भावात् । सा तु न धर्मवत् कृतिसाध्या न वा ब्रह्मवद्ज्ञेया किंतु नैरंतर्यप्रेमरूपा । सा भक्तिः समासेन

नवधा यथा–"श्रवणं कीर्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनम्
अर्चनं वंदनं दास्यं सख्यमात्मनिवेदनम् ॥ " इति नवधा
प्राप्या ॥ १ ॥

भाषा-अब पूर्वमीमांसाशास्त्रोक्तकर्मकांडके अधिकारके अनं
यहांसे भक्तिजिज्ञासा कर्तव्य है । जिज्ञासाका अर्थ जानने
इच्छा या विचार है, अर्थात् भक्तिमार्गके जाननेकी इच्छा क
चाहिये अथवा भक्तिका विचार करना चाहिये । कई आच
" अथ " शब्दको अधिकारार्थमें मानते हैं, अनंतर अर्थमें
नहीं मानते, क्योंकि ध्रुव प्रह्लादादि भक्तोंको कर्मकांडके अधिका
से पहलेही बालअवस्थाहीसे भक्तिका प्रादुर्भाव हुआ था । भ
धर्मकी तरह क्रियासाध्य नहीं है और न इसे ब्रह्मकी तरह ज्ञे
(ज्ञानसाध्यत्व) है किंतु यह निरंतर प्रेमरूपही है । यह भ
संक्षेपसे नवधा है, जैसे–श्रवण, कीर्तन, स्मरण, पादसे
अर्चन, वंदन, दास्य, सख्य और आत्मनिवेदन इन नौ द्वा
प्राप्य है ॥ १ ॥

सा पराऽनुरक्तिरीश्वरे ॥ २ ॥

सं० टी०--ईश्वरे अनुरक्तिः सा परा पराभक्तिरित्यर्थः
ईश्वरे परमोपास्ये अनुरक्तिः अनुरागः । रागस्य द्वेषप्रति
क्षभावात् सुखानुशयित्वात् सुखस्य चानुकूलवेद

त्वात् अनुकूलवेदनीये सौंदर्यशृंगारादिसंपन्ने स्वरूपे विशेषानुरागप्रादुर्भावदर्शनात् ईश्वरेऽपि वात्सल्यसौंदर्यशृंगारादिसंपन्ने परमकमनीये श्रीकृष्णस्वरूपे चात्यनुरक्तिसद्भावात् तत्रैव परा भक्तिर्भवितुमर्हति । वात्सल्यादिगुणसंपन्नेषु श्रीरामचंद्रादिष्वपि च रूपगुणादिरहिते ज्ञानमात्रेऽपि दुर्विज्ञेये प्रतिकूलानुकूलवेदनीयाभाववति रागद्वेषादिशून्ये कथनोपकथनमात्रे ईश्वरे अनुरक्तेरभावात् पराभक्तिर्भवितुं नार्हति ॥ २ ॥

भाषा–ईश्वरमें अनुरक्ति अनुराग अर्थात् पूर्ण प्रेमही परा भक्ति है । अब जानना चाहिये कि राग जो है सो द्वेषका प्रतिपक्षी है और सुखानुशयी है और वही जो अनुकूलवेदनीय हो अर्थात् अच्छा लगे सो ही सुख है और अनुकूलवेदनीय (अच्छा मालूम होनेवाले) शृंगार तथा सुंदरतादियुक्त स्वरूपमें विशेष अनुराग (प्रेमभाव) होना प्रत्यक्ष संसारमें दीखता है इससे ईश्वरमें भी वात्सल्य सुंदरता शृंगार आदिसे संपन्न परमरमणीक श्रीकृष्णभगवान्-स्वरूपमें अत्यंत अनुराग (प्रेमभाव) होनेसे कृष्णभगवान्हीमें पराभक्ति होसकती है । तथा वात्सल्यादिगुणयुक्त श्रीरामचंद्रादिकोंमें भी भक्ति हो सक्ती है । परंतु गुणरूपादिसे

रहित और ज्ञानमात्र करके भी कठिनाईसे जानने योग्य
और जो प्रतिकूल अनकूल वेदनीय न हो अर्थात्
न बुरा मालूम हो न अच्छा और जहां न द्वेष है न राग
है, कथनोपकथनमात्र ईश्वर है उसमें अनुराग नहीं होसकने
वहां परा भक्ति भी नहीं होसक्ती । सारांश यह कि विष्णु शि
राम कृष्णादि सगुणरूप ईश्वरमें अनुराग होनेसे भक्ति होसक्ती है
निर्गुण रूपरागादिरहितमें अनुराग ही नहीं, तब नवधा भ
क्या और कैसे होसक्ती है । और जितना जीवका भुक्ति औ
मुक्तिसंबंधी कल्याण भक्तिद्वारा होसक्ता है उतना न कर्मकांड
होसक्ता है न ब्रह्मज्ञानसे । क्योंकि कर्मकांड प्रवृत्तिमार्ग होने
विशेषकर भुक्तिका साधन है । मुक्तिका विशेषकर नहीं है
एकपक्षीय है तौभी उसमें विधि और क्रियाकी इतनी कठिनता
कि बातबातमें जरासी न्यूनाधिकता अस्तव्यस्तता आदिमें का
सिद्धिमें विक्षेप होकर उलटा विघ्नका भय होता है और ब्रह्मज्ञा
नका भुक्ति अर्थात् लौकिक सुख धन संतान आदि स्वर्गपर्यंत
कुछ संबंध ही नहीं वह केवल मुक्तिहीका साधन होसक्ता है
यह भी एकपक्षीय है तौभी उस ब्रह्मको अगोचर अनाम अरू
कहते हैं इससे सहज ही ध्येय और ज्ञेय नहीं होसक्ता । बडे वि
रकी बात है कि प्रायः लोग निराकार ब्रह्म ब्रह्म पुकारते हैं वे
विचार नहीं करते कि निराकार ब्रह्म क्या करता है, वह ब्रह्म
निराकार सर्वव्यापकतासे प्राकृतिक उपकार करता है सो करता
रहता है विशेष कुछभी नहीं करता, जैसे सर्वव्यापक अग्नि अ

मादि काष्ठमें होकर कुछ उसका प्राकृतिक उपकार (पृथ्वीगत जलके अंश शोषण करना आदि) ही करता है र विशेष कार्य किसीका भी दाल भात पकाना आदि नहीं कर सक्ता, अस्तु । यदि किसीको अपना दाल भात पकाना आदि कार्य साधन करना है तो उस सर्वव्यापीको एक देशमें विशेषव्यापी करना होगा अर्थात् अपने कार्यसाधनके लिये अरणी काष्ठ मथकर प्रत्यक्ष साकार अग्नि संपादन करना होगा और ऐसा भी मिथ्या भ्रम नहीं करना होगा कि यहां इतना अधिक अग्नि हो गया है तो और जगहसे कम या नष्ट होगया होगा जैसा कि कुतर्की लोग तर्क करते हैं कि राम या कृष्ण ईश्वर हैं तौ क्या और कहीं भी ईश्वर नहीं रहा उनको ऊपरका दृष्टांत गौर करना चाहिये कि जब अरणी काष्ठमें अग्नि विशेष प्रकट हुआ है तौ भी सब अरणी काष्ठोंमेंसे नष्ट या कम नहीं होगया है किंतु वहांपर उसके अंशांशोंका विशेषभाव प्रत्यक्ष और प्रकट हो गया है जिससे विशेष उपकार होसके । इसी प्रकार भक्तोंके उपकारके लिये ईश्वरके साकार अवतार होते हैं । जो समूह अवतार नहीं मानते हैं वे भी किसी न किसी प्रकार किसी साकारको मध्यस्थ या शिक्षक या नियत मानकर ही ईश्वर आराधन करते हैं, विना साकारकी प्राधान्यता या नियतिके कोई भी ईश्वराराधन नहीं करसक्ता इसमें संदेह नहीं । उपरोक्त वर्णनसे सिद्ध हुआ कि जीवोंके सभी उपकार (कामना) सगुण साकार ईश्वरके अनुराग

(भक्ति) करनेसे सहजहीमें सिद्ध होता है । अहाहा यह भक्ति मार्ग उत्तम और सरल भी कैसा है कि न जिसमें समयका बंध है, न क्रियाकी आवश्यकता है न जातिकी उत्तमताकी जरूरत है न विद्याकी न तपकी न योगकी किसीभी बातकी जरूरत नहीं है, केवल ईश्वरमें उसके वात्सल्यादि गुणोंमें लीलाओंमें पूर्ण अनुराग पूरे प्रेमीकी जरूरत है चाहे किसीभी अवस्थामें हो ईश्वरमें पूर्णप्रेम करना अर्थात् मैं कैसा भी हूं तेरा हूं यही निरंतर भावना रखना तदीयता (पराभक्ति) है इसीसे लौकिक सब कामना सिद्ध होकर मोक्षपद प्राप्त होता है सो अगाडी वर्णन करते हैं ॥ २ ॥

तत्संस्थस्यामृतत्वोपदेशात् ॥ ३ ॥

सं०टी०—तत्संस्थस्य भक्तस्य अमृतत्वं भवतीत्युपदिशंत्याप्ताः । तस्यां भक्तौ संस्था यस्य स तत्संस्थः भक्तस्तस्य अथवा तस्मिन् ईश्वरे संस्था भक्तिः यस्य तस्य अमृतत्वं मोक्षः ब्रह्मपदं वा संस्था अवस्थितिः तस्मात् भक्तिजिज्ञासा कार्या ॥ ३ ॥

भाषा—तत्संस्थको अर्थात् भक्तको मोक्ष (ब्रह्मपद) प्राप्त होता है ऐसा महात्माओंका अथवा शास्त्रका उपदेश है इसीसे अनुरागरूपा भक्तिकी प्रधानता है और उसीकी जिज्ञासा कर्तव्य है ॥ ३ ॥

ज्ञानमिति चेन्न द्विषतोऽपि ज्ञानस्य तदसंस्थितेः ॥ ४ ॥

सं०टी०—ईश्वरज्ञानमेव भक्तिरिति चेन्न द्विषतः अपि ज्ञानं भवितुमर्हति परंतु तस्य संस्थितिः प्रेमरूपा भक्तिर्भवितुं नार्हति । संस्था अनुरक्तिरूपा भक्तिरेव न तु ज्ञानं यथा भूपालानुरक्तास्तस्यामात्यकलत्रमित्रादयो भवंति प्रतिपक्षिणो नृपास्तज्ज्ञानवतोऽपि नानुरक्ताः ॥ ४ ॥

भाषा—ईश्वरका ज्ञान (ब्रह्मज्ञान) मात्र ही भक्ति है ऐसा नहीं होसक्ता क्योंकि शत्रुका भी ज्ञान तो होता ही है परंतु उसमें अनुराग (प्रेम) रूपा भक्ति कदापि नहीं होसक्ती । जैसे कि राजाके मंत्री मित्र तथा कलत्रादिकी उसमें प्रेमपूर्वक भक्ति होसक्ती है परंच प्रतिपक्षी राजालोगोंका पूरा परिज्ञान होनेपर भी अनुराग (प्रेम) रूपा भक्ति उसमें कदाचित् भी नहीं होसक्ती इसमें संदेह नहीं । विचार कर देखिये तौ जाननेवाले और प्रेमीमें कितना बडा अंतर है । जानकारीमात्रसे कुछ नहीं होसक्ता, जितना कि प्रेमसे उपकार होसक्ता है, इसीसे ब्रह्मज्ञान भक्तिकी बरावरी नहीं करसक्ता । अनजानकी अपेक्षा जानकारका कुछ परिचय होसक्ता है परंतु प्रेमीके समान जानकार मात्रसे प्रेम और अपनास कदापि संभव नहीं ॥ ४ ॥

तयोपक्षयाच्च ॥ ५ ॥

सं० टी०—तया भक्त्या ज्ञानस्य उपक्षयात् । ज्ञानस्य इति पूर्वसूत्रादनुवृत्तिः । उपक्षयः क्षीणता भक्तौ सत्यां ज्ञानस्योपक्षयोऽपि कदाचिद् भवतीति प्रतीयते यथा गीत-गोविंदे " नायातः सखि निर्दयो यदि शठः " इत्यादि भग-वति श्रीकृष्णे राधावचनं श्रीराधायाः श्रीकृष्णचंद्रमीश्वरं जानत्या ज्ञायातिप्रेमरूपया परया अतिभक्त्या निर्दयः शठः इत्युक्तिः ज्ञानोपक्षयादेवास्ति न तु द्वेषात् ॥ ५ ॥

भाषा—इस अनुरागरूपा परा भक्तिसे ज्ञानका उपक्षय जा सकता है जैसे गीतगोविंदमें श्रीराधाजीका वचन है कि सखि ! निर्दय शठ श्रीकृष्ण नहीं आये इत्यादि श्रीराधा कृष्णमहाराजको ईश्वर जानती भी थी पर प्रेमरूप परा भक्तिसे निर्दय शठ ऐसे कठोर शब्द कहना यही ज्ञानका उपक्षय है अर्थात् राधाजीने प्रेमभक्तिमें ज्ञानके उपक्षय होजानेसे कहा है (द्वेषभावसे नहीं कहा) और जब पराभक्तिमें ज्ञानका उपक्षय होजाता है तब भक्तिकी प्रधानता है ॥ ५ ॥

द्वेषप्रतिपक्षभावाद्रसशब्दाच्च रागः ॥ ६ ॥

सं० टी०—भक्तेः स्वरूपं दर्शयन्नाह द्वेषेति ॥ द्वेष-

पक्षभावात् रसशब्दात् रसकथनात् च राग एव भक्तिः । षप्रतिपक्षभावः द्वेषविरोधी रागः । द्वेषविरोधित्वात् राग एव क्तिर्भवितुमर्हति । तथा च रसो रागः भक्तौ रसशब्द एव कथनात् च भक्तिः राग एव । वस्तुतस्तु भक्तिरीश्वरविष-वानुरक्तिरिति युज्यते । तथा च तैत्ति० रसं ह्येवायं ल-ब्ध्वाऽनंदी भवतीति शब्दात् तत्रापि ब्रह्मानंदाविर्भावसुक्तेर्ब्र-गोचरस्य रसस्य हेतुतावगम्यते । द्वेषविरोधित्वं भक्तेर-धानं तथाच गीतायां श्लो० "ममात्मपरदेहेषु प्रद्विषंतोऽ-यसूयकाः । तानहं द्विषतः क्रूरान् संसारेषु नराधमान् ॥ क्षिपाम्यजस्रमशुभानासुरीष्वेव योनिषु । आसुरीं योनिमापन्ना ढा जन्मनि जन्मनि । मामप्राप्यैव कौंतेय ततो यांत्यधमां तिम् ॥" इति ॥ ६ ॥

भाषा—द्वेषके प्रतिपक्ष होनेसे और रस कहेजानेसे राग (अनु-ाग) ही भक्ति है । संसारमें द्वेष और प्रेम दो ही वस्तु हैं सो षका प्रतिपक्ष प्रेम है और प्रेमसे भक्ति होती है अर्थात् द्वेषका तिपक्षी जो राग है सो ही भक्ति है इससे तथा राग रसरूप थन कियाजाताहै इससे भक्ति सरस है क्योंकि भक्तिमें अनुराग-रूप रसका प्रादुर्भाव होता है और उस अनुरागरूप रससे आनंद

(ब्रह्मानंद) की प्राप्ति होती है ऐसा ही तैत्तिरीय उपनिषद् भी लिखा है और गीतामें कृष्णजीने कहा है कि जो मुझमें औ आत्मपर देहीमें द्वेष रखनेवाले क्रूर मनुष्य हैं उन नीच प्राणि को मैं राक्षसी योनियोंमें निविष्ट करता हूं और वे अनेक जन्म तक मुझे प्राप्त न होकर अधम गतिको जाते हैं और ज्ञान द्वेष दोनोंसे शून्य हैं इसीसे सरस भी नहीं है इस कारणसे भा हीकी उत्तमता है ॥ ६ ॥

न क्रियाकृत्यनपेक्षणाज्ज्ञानवत् ॥ ७ ॥

सं०टी०—न क्रियायाः कृतेः अनपेक्षणात् ज्ञानवत् सा भक्तिर्न क्रियात्मिकास्ति यथा ज्ञानं क्रिया इन्द्रिय व्यापारात्मिकायां फलेच्छाव्यापाररूपायां कर्तव्यताय मिति (शब्दस्तोमः) । कृतिः पुरुषप्रयत्ने कर्तृव्यापारे का चेति (श० स्तो०) । प्रेमरूपायां भक्तौ क्रियायाः कृते नैवापेक्षा भवतीति फलितोऽर्थः । तथाह स्वमेश्वरः । भक्तिर्न क्रियात्मिका भवितुमर्हति प्रयत्नानुविधानाभावा यन्न प्रयत्नानुविधायि तन्न क्रियात्मकं यथा ज्ञानम् ॥

भाषा—प्रेमरूपा पराभक्तिमें कुछ भी क्रिया कृति पूजादि वि बनादिकी आवश्यकता नहीं है जैसे ज्ञानमें और न इस बा जप तप पूजादिविडंबनासे भक्ति होती है और न विना प्रेमभ

निषन्न बाहरी आडंबरी क्रियाओंसे कुछ ऐहिक और पारलौकिक मं और्ण सिद्धि ही होती है। भक्ति तो केवल निरंतर मानसिक अनुराग ाणिही है अर्थात् प्रेमभक्ति किसी क्रियाके आधीन नहीं है वह तो जन्मपूर्वोपार्जित गौणभक्ति द्वारा ईश्वर अथवा महापुरुष गुरुकी कृपासे न स्वयं ही मनमें होजाती है । ज्ञानकी भांति औद्योगिक क्रियासे भा नहीं, जैसे किसीभी पदार्थका ज्ञान उसमें औद्योगिक क्रिया करने सीखने) से प्राप्त होसक्ता है परंतु प्रेम किसी भी औद्योगिक क्रिया विद्या आदिसे प्राप्त नहीं होसक्ता किंतु प्रेमपात्रके गुण सौंदर्यादि मनमें खचित होनेसे स्वयं ही उत्पन्न होता है ॥ ७ ॥

अत एव फलानन्त्यम् ॥ ८ ॥

सं०टी०—अत एव एतस्मात्कारणादेव फलस्यानंतत्वम् । यतः सा भक्तिर्न क्रियात्मिका तस्मादेव भक्तेः फलस्य निःश्रेयसस्य अनंतत्वमुपपद्यते ॥ ८ ॥

भाषा—इसी कारणसे भक्तिका फल अनंत है । जब कि भक्ति क्रियात्मिका नहीं है इससे उसके फल निःश्रेयस कल्याणरूपी फलकाभी अंत नहीं है क्योंकि जो क्रियात्मक (क्रियासाध्य) पदार्थ हैं वे सभी क्षीयमाण हैं और जो क्रियात्मक नहीं हैं वे कभी क्षीयमाणभी नहीं हैं इसीसे वे अनंत हैं अर्थात् कभी उनका अंत नहीं होता है ॥ ८ ॥

तद्वतः प्रपत्तिशब्दाच्च न ज्ञानमितरप्रपत्तिवत् ॥९॥

सं०टी०—तद्वतः ज्ञानवतः प्रपत्तिशब्दात् न ज्ञानं, मु-
च्च इतरप्रपत्तिवत् । प्रपत्तिशब्दात् प्रपत्तिकथनात् प्रप-
प्रपन्नता शरणागतिः इतरप्रपत्तिः देवतांतरप्रपत्तिः ज्ञान-
प्रपत्तिकथनादपि न ज्ञानं (मुख्यं) किंतु ज्ञानं च इतरप्र-
पत्तिवदिति अथवा इतरप्रपत्तिवत् ज्ञानं विनापि ईश्व-
प्रपत्तिः स्यात् ॥ ९ ॥

भाषा—ज्ञानीको भी ईश्वरकी प्रपत्ति (शरणागतिप्राप्ति
होजाती है ऐसा शास्त्रोंमें कहा है तौ भी ज्ञान भक्तिके सम
नहीं है क्योंकि ज्ञानके विना भी प्रेमरूपी ईश्वरभक्तिसे ईश्वर
प्राप्ति होसक्ती है जैसे कि बहुतसे भक्त ब्रह्मज्ञानी विद्वान् न होने
भी ईश्वरके चरणारविंदोंमें पहुँच गये हैं । परंतु विना ईश्वरकी भ-
हुए कोईभी ज्ञानी उस पदको प्राप्त नहीं हुआ । जितने ज्ञानी
सभीके चित्तमें भक्ति उत्पन्न हुई है तभी उस पदको प्राप्त हुए
वस्तुतः जितनी शीघ्र जितनी सहल भक्तिसे प्रपत्ति होती है उत-
शीघ्र उतनी सहल ज्ञानसे नहीं हो सक्ती । जैसे भगवान्ने गीता
उपदेश किया है कि " बहूनां जन्मनामंते ज्ञानवान् मां प्रपद्यते
अर्थात् बहुत जन्मोंके अंतमें ज्ञानवान् मुझे प्राप्त होते हैं
भक्तिके समान ज्ञान ईश्वरप्राप्तिका कारण नहीं होसक्ता

ऐसा भी अर्थ करते हैं कि ज्ञानसे इतर प्रपत्ति हो जाती है अर्थात् ज्ञानकी विदग्धतासे बुद्धि स्थिर नहीं रहती अनेक प्रकार देवताओं और अनेक मतोंकी तरफ बुद्धि चलायमान होतीरहतीहै जैसा कि गीता अ०७ श्लोक २० में लिखा है कि "कामैस्तैस्तैर्हृतज्ञाना प्रपद्यंतेऽन्यदेवताः । " अर्थात् उन्हीं उन कामों करके ज्ञानीका ज्ञान डावाँडोल होकर वे अन्यदेवताओंको प्राप्त होते हैं। प्रयोजन यह है कि जबतक पूर्णप्रेमरूपा भक्ति नहीं होती है तबतक प्रपत्ति ईश्वरप्राप्ति हो ही नहीं सक्ती ॥ ९ ॥

इति प्रथमाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

सा मुख्येतरापेक्षितत्वात् ॥ १० ॥

सं०टी०—सा भक्तिः मुख्या इतरापेक्षितत्वात् । इतरेषु ब्रह्मज्ञानयोगादिष्वपि भक्तेरपेक्षा भवति किंतु पराभक्तौ न च ज्ञानयोगादीनामपेक्षा अत एव भक्तिरहितज्ञानमात्रेण प्रपत्तिसिद्धिमोक्षादीनामदर्शनात् ब्रह्मज्ञानरहितेन परभक्तिमात्रेण प्रपत्त्यादिदर्शनाच्च भक्तेर्मुख्यत्वमुपपद्यते॥१०॥

भाषा—पराभक्ति मुख्य है क्योंकि इतर ब्रह्मज्ञान तप योगादिमें भी भक्तिकी आवश्यकता होती है और परप्रेमरूपभक्तिमें ज्ञान योग तप आदि किसीकी भी आवश्यकता नहीं। वस्तुतः भक्तिरहित

तप अथवा ज्ञानमात्रसे प्रपत्ति सिद्धि मोक्षादिक कुछभी नहीं हो और ब्रह्मज्ञान तप आदिके विना भी पराभक्ति हो जानेसे प्र सिद्धि मोक्षादिक सब कुछ प्राप्त होजाता है ऐसा बहुधा भ देखा जाता है इसीसे भक्ति ही मुख्य है, ज्ञान नहीं ॥ १० ॥

प्रकरणाच्च ॥ ११ ॥

सं०टी०—प्रकरणादपि भक्तिर्मुख्या । प्रकरणं तपोज्ञानादयः प्रकरणानि भक्तेरंगानीत्यर्थः । भक्तावं त्वमगवम्यते अंगांगिनोर्मध्ये चांगी स्वतंत्रः अंगानि गिपरतंत्राणि तस्माच्च भक्तिरेव मुख्या ॥ ११ ॥

भाषा—प्रकरणसे भी भक्ति ही मुख्य प्रतीत होती है। प्रक णका अर्थ अंग है और तप ज्ञानादिक प्रकरण हैं अर्थात् भक्ति अंग हैं। भक्ती अंगा है और अंग अंगीके आधीन रहते हैं अंगी अंगोंके आधीन नहीं होता है इससे भी तप योगादिसे भक्ति ही मुख्य रही ॥ ११ ॥

दर्शनफलमिति चेन्न तेन व्यवधानात् ॥ १२ ॥

सं०टी०—दर्शनं ज्ञानमेव फलं अथवा दर्शनस्य ज्ञा स्यैव फलं अमृतत्वं भवतीति चेन्न तेन ज्ञानमात्रेण व्य धानात् । ज्ञानेन तु भक्तिरहितेन व्यवधानं भवितुमर्हति

नं बुद्धिः । ज्ञानं अध्यात्मज्ञानोपायः, व्यवधानं पार्थक्यं वरणं इति (श० स्तो०) ॥ १२ ॥

भाषा—दर्शन ज्ञान ही फलरूप है अथवा दर्शनसे ज्ञानसे ही रूप अमृतत्व प्राप्त हो जाता है ऐसा नहीं है क्योंकि केवल नमात्रसे तौ व्यवधान हो जाता है अर्थात् ज्ञानमात्र तौ हो और भक्ति न हो तौ उससे कुछ कार्यसिद्धि अमृतत्वादिकी प्राप्ति हीं हो सक्ती किंतु उससे उलटा व्यवधान होजाना संभव है । यही छांदोंमें लिखा भी है कि जो ज्ञानी भक्तिमान् होता है वही राट् अर्थात् मुक्त होता है इससे वेदमेंभी भक्तिहीकी प्रधानता ती है ॥ १२ ॥

दृष्टत्वाच्च ॥ १३ ॥

सं० टी०—दृष्टत्वाच्चापि भक्तिर्मुख्या । लोकेऽपि प्रत्यक्ष- था भक्तिर्मुख्या दृश्यते इति फलितोऽर्थः । ज्ञानादिषु मुख्य- नैवोपपद्यते पूर्णज्ञानेन विनापि शैशवावस्थायामेव ध्रुवस्य मेश्वरप्राप्तिस्तत्र तु परप्रेमरूपां भक्तिरेव कारणं नतु नादयः । तथा चोक्तं " व्याधस्याचरणं ध्रुवस्य च वयो या गजेंद्रस्य का का जातिर्विदुरस्य यादवपतेरुग्रस्य किं षम् ॥ कुब्जायाः कमनीयरूपमधिकं किं तत्सुदाम्नो धनं

"भक्त्या तुष्यति केवलैर्न च गुणैर्भक्तिप्रियो माधवः" ॥१

भाषा—प्रत्यक्ष देखेजाते भी भक्ति ही मुख्य प्रतीत होती संसारमें ऐसे बहुतसे प्रत्यक्ष उदाहरण दीख रहे हैं जिनमें भ हीकी मुख्यता पाई जाती है । ज्ञानादिककी मुख्यता इतनी पाई जाती । जैसे कि पूर्णज्ञानके विना ही बालकअवस्थामें जीको परमेश्वरकी प्राप्ति हुई उसमें केवल दृढ प्रेमरूपा भक्ति कारण थी । इसी भांति अनेक भक्तोंको पूर्णज्ञानादिके विना केवल दृढप्रेमरूपा भक्तिसे ईश्वरकी प्राप्ति हुई. देखो व्याधक ज्ञानी था, वाल्मीकिजी पहले कौनसे विज्ञानी थे, गजराज कै ज्ञानी था, भीलनी तौ ज्ञानसे शून्यही थी, प्रेमसे झूठे बेर भ रामचन्द्रजीको खिलाकर परमपदको प्राप्त हुई ये तौ प दृष्टांत हैं, इसके पीछे थोडे दिनके प्रसिद्ध भक्तोंको देखिये करमाबाई सदन धानाजाट नामदेव आदि अनेक भक्त हुए, कौनसे विद्यावान् अथवा ज्ञानी थे, इनमें विद्याज्ञानादि कुछभी उच्च नीच किसी भी जातिमें उत्पन्न हुआ हो पर जिसने दृढ ईश्वरकी भक्ति करी उसीको ईश्वरकी प्राप्ति हुई है तथा अद्यु मान समयमें भी तलाश करनेसे ऐसे भक्त मिलते हैं जो विद्या या ज्ञान या उच्चता शौचाचारादि रखते हों या रखते पर ईश्वरकी परभक्तिमें लवलीन हैं उन्हें ईश्वरप्राप्ति हो इसमें संदेह नहीं ॥ १३ ॥

अत एव तदभावाद्वल्लवीनाम् ॥ १४ ॥

सं०टी०—अत एव तदभावात् ब्रह्मविषयकविज्ञानाभा-त् वल्लवीनां निष्कृतिर्भवतीति स्मर्यते । वल्लवी व्रज-पिका एवमेव बहूनां भक्तानां ब्रह्मविषयकज्ञानाभावेऽपि ानुरागरूपभक्त्या एवेश्वरप्राप्तिः ॥ १४ ॥

भाषा-इसीसे ब्रह्मविषयक ज्ञानके विना भी अनुरागरूप भक्ति-त्रसे व्रजगोपिकाओंका निस्तारा होगया । इसी प्रकारसे बहुतसे क्तोंको ब्रह्मविषयक ज्ञानके विना केवल अनुरागरूपा दृढ भक्ति-से ईश्वरकी प्राप्ति हुई है इसीसे भक्ति परम प्रधान है और भक्ति-से ईश्वरकी प्राप्ति होती है अन्यथा नहीं ॥ १४ ॥

क्त्या जानातीति चेन्नाभिज्ञप्त्या साहाय्यात्॥ १५॥

सं०टी०—भक्त्या जानाति ज्ञानी भवति इति चेन्न भिज्ञप्त्या साहाय्यात् अभिज्ञप्तेस्तु भक्तिसाहाय्यम् । तु भक्तेः फलत्वम् । अभिज्ञप्तिः ज्ञानम् ॥ १५ ॥

भाषा-जो ऐसा कहें कि भक्ति करनेसे ज्ञान (ब्रह्मज्ञान या वरादिका ज्ञान) होता है फिर ईश्वरप्राप्ति अथवा मुक्ति होती है ऐसा नहीं है क्योंकि अभिज्ञप्ति अर्थात् ज्ञान तो भक्तिका ायक है जब पूर्णभक्ति ही होगई फिर ज्ञानादिककी कुछ भी पेक्षा नहीं । हां पहले कुछ ज्ञान होकर पीछे उसमें भक्ति होती है

इससे ज्ञानको भक्तिकी आवश्यकता है भक्ति प्राप्त हुए पीछे ज्ञा
अपेक्षा नहीं ॥ १५ ॥

प्राग्युक्तं च ॥ १६ ॥

सं०टी०—एवमेव प्राग्युक्तम् । पूर्वसूत्रेष्वेवमुक्तं
वदादावपि चैवमुक्तम् ॥ १६ ॥

भाषा—पहलेसे भी ऐसा ही कहा जाचुकाहै अर्थात्
पूर्वोक्त सूत्रोंमें ऐसा कहदियाभी है अथवा अन्य शास्त्रों
दादिमें भी ऐसा हीं कहा है कि भक्तिके बाद ज्ञानकी आ
कता नहीं है ॥ १६ ॥

एतेन विकल्पोऽपि प्रत्युक्तः ॥ १७ ॥

सं०टी०—एतेन (उपरोक्तकथनोपकथनेन) ज्ञा
क्त्योरंगागित्वविकल्पोऽपि प्रत्युक्तः निराकृतः । ज्ञा
भक्तेरंगत्वमेव निश्चितम् ॥ १७ ॥

भाषा—इस उपरोक्त कथनोपकथनसे ज्ञान और भक्तिके
यमें अंग और अंगित्वका जो विकल्प था अर्थात् भक्तिक
ज्ञान है अथवा ज्ञानका अंग भक्ति है यह जो संदेह था
निवृत्त होगया और स्पष्ट यही निश्चय होगया कि भक्ति
प्रधान है, ज्ञान भक्तिका एक अंगरूप सामान्य है इससे
ही मुख्य है ॥ १७ ॥

देवभक्तिरितरस्मिन् साहचर्यात् ॥ १८ ॥

सं०टी०—देवभक्तिः इतरस्मिन् ज्ञातव्या (कुतः)
चर्यात् देवभक्तिः इंद्रादिदेवानां भक्तिः इतरस्मिन् ईश्वरे-
स्मिन् मंतव्येति शेषेणान्वयः । साहचर्यात् गुरुभक्त्या-
ाहचर्यात् अत एव ईश्वरानुरक्तिरेव परा भक्तिर्भवति
यस्मिन्देवादावनुरक्तिः पराभक्तिरिति फलितोऽर्थः॥ १८॥

भाषा—अन्य इंद्रादि देवताओंकी भक्ति ईश्वरेतर देवोंकी भक्ति
ानी चाहिये क्योंकि उसमें सहचारिताका दोष होनेसे वह
भक्ति नहीं होसक्ती । जैसी किसी एक देवकी भक्ति वैसी ही
देवताकी भक्ति तथा गुरुकी भक्ति जैसा एक देव वैसा ही
ा भी देवता होसक्ताहै । परा भक्ति अनन्यरूपा उसीमें हो
ाहै जिसके समान दूसरा कोई होही नहीं इसीसे परमेश्वरके
न दूसरा नहीं होनेसे परमेश्वरकी भक्ति ही पराभक्ति हो
ी है ॥ १८ ॥

योगस्तूभयार्थमपेक्षणात् प्रयाजवत् ॥ १९ ॥

सं०टी०—योगस्तु उभयार्थं ज्ञानार्थं भक्त्यर्थं च
यापेक्षणात् प्रयाजवत् । योगे तु ज्ञानस्यापेक्षा भक्ते-
ा च भवति तस्मात् योगस्तु प्रयाजतुल्यः । यथा प्रया-

जस्तथैव योग इति भावः । प्रयाजः क्रियाकृतिसापेक्षः तथैव योगोऽपि क्रियाकृतिसापेक्ष्य एव प्रयाजो वाजपेयाद्यंगं योगे च यमनियमासनप्रत्याहाराद्याडंबरीयक्रियाकाठिन्यं भवति न तु प्रेमरूपायां भक्तौ किंचिदपि क्रियाकाठिन्यम् अतो भक्तिरेव मुख्या ॥ १९ ॥

भाषा—योगमें तौ दोनोंकी अपेक्षा है अर्थात् ज्ञान और भक्ति दोनोंके लिये योग है और दोनोंकी योगमें आवश्यकता है इसलिये योग तो प्रयाज अर्थात् अश्वमेधादि यज्ञांगके ही समान है तथा जैसे प्रयाज क्रियाकृतिसाध्य एक साधन है वैसे ही योग भी क्रियाकृतिसाध्य साधन है । भक्तिके समान क्रियाकृतिरहित प्रेमरूप परमानंदप्राप्तिकारक नहीं है । योगमें यम नियम आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान समाधि ये कितने झंझट और आडंबर हैं, क्रियाओंकी कितनी कठिनता है । भक्तिमें न कुछ झंझट हैं न आडंबर न क्रियाओंकी कठिनता है न कुछ देश काल विधि क्रिया आदि बंधनोंकी आवश्यकता है । भक्तिमें तो ईश्वरविषयक एकमात्र प्रेमकी आवश्यकता है इससे भक्तिके समान योगादि कुछभी नहीं है भक्तिही मुख्य है ॥ १९ ॥

गौण्या तु समाधिसिद्धिः ॥ २० ॥

सं०टी०—' ननु योगे समाधिसिद्धिर्भवति यथा पातंजल

योगदर्शने प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य वीतरागस्मरणाद्वा ईश्वरप्रणिधानाद्वा इत्यादि ' सूत्रेषूक्ता सा कथमेव भक्ताविति तत्राह गौण्येति । भक्त्या गौण्या तु समाधिसिद्धिर्भवति सा च पतंजलिमतेनैव ईश्वरप्रणिधानाभिधेयाद्भगवद्भजनात् ईश्वरवाचकस्य प्रणवस्य जपाच्च समाधिसिद्धिरुक्ता तत्र तु ईश्वरप्रणिधानं तद्वाचकस्य प्रणवस्य जपादिक तत्सर्वमेव गौणभक्तिविषयम् । पराभक्तौ तु एतस्मादपि श्रेष्ठस्य परमेश्वरीयप्रेमपदस्य प्राप्तिः अत एवापि पराभक्तिर्मुख्या ॥ २० ॥

भाषा–" योगमें तौ समाधि होजातीहै जैसे पातंजलयोगदर्शनमें प्राणोंके बाहर भीतर करने अर्थात् भस्त्रिका नामक प्राणायामके अभ्यास बढ जानेसे समाधिसिद्धि होना तथा वीतरागके स्मरण करनेसे भी समाधिसिद्धि और ईश्वरप्रणिधान अर्थात् ईश्वरमें मन लगाकर भजन करनेसे भी समाधिसिद्धि होती है ऐसे कई सूत्रोंमें लिखाहै ऐसा भक्तिमें कैसे होसक्ताहै इसके समाधानके लिये ही यहां गौण्या तु समाधिसिद्धिः यह सूत्र कहा है । भक्तिमें तौ गौणी भक्तिसे ही समाधिसिद्धि होजाती है । देखिये पतंजलिजीने भी तौ ईश्वरप्रणिधानरूपक भगवत्के भजनसे तथा ईश्वरवा-

चक प्रणव (ॐकार) के जपसे समाधिसिद्धि होजाना वर्णन कियाहै, इसमें ईश्वरप्रणिधान और तद्वाचक ओंकारका जप इत्यादि सब यह गौणभक्तिहीका विषय है और गौणभक्तिरूप है और जब समाधिसिद्धि गौणभक्तिहीसे होजातीहै तौ पराभक्तिका यह तौ इससे भी श्रेष्ठ परमेश्वरीय प्रेमरूप परमपद है इससे भी भक्तिही मुख्य ठहरी ॥ २० ॥

हेया रागत्वादिति चेन्नोत्तमास्पदत्वात्संगवत् ॥२१॥

सं० टी०—भक्तिः रागरूपा रागश्च क्लेशः तथा चोक्तम्। पातंजले "अविद्याऽस्मितारागद्वेषाऽभिनिवेशाः पञ्च क्लेशाः" अतो रागत्वात् भक्तिर्हेया चेत् तन्न उत्तमास्पदत्वात् ईश्वरविषयकप्रेमास्पदत्वात् सतां संगवत् यथा सतां संगो रागत्वेऽपि न कदाचित् क्लेशाय भवति किंत्वखंडानन्दहेतुरेव तथैव भक्त्यामीश्वरविषयकरागत्वेऽपि विप्रयोगक्लेशादीनामत्यंताभावता परमाक्षयानंदहेतुता च ॥ २१ ॥

भाषा—भक्ति रागरूप (प्रेमरूप) है और राग क्लेशरूप है जैसे पातजलमें लिखाहै कि १ अविद्या (अज्ञान) २ अस्मिता (अहंकार) ३ राग (प्रेम) ४ द्वेष (वैर) ५ अभिनिवेश (विषयोंमें प्रवृत्ति) ये पांच क्लेश हैं इससे रागरूप भक्ति भी त्यागने योग्य होनी चाहिये, परंतु ऐसा नहीं ।

उत्तमास्पद होनेसे अर्थात् ईश्वरविषयक प्रेमका स्थान होनेसे भक्ति त्यागने योग्य कदापि नहीं है जैसे सत्संग साधुमहात्माओं-का संग प्रेममय होकर भी कभी क्लेशदायक नहीं होता है किंतु अखंड आनंददायक ही होता है इसी प्रकार भक्तिमें ईश्वर-विषयक प्रेम होकर भी वियोग और क्लेशादिकका होना त्रिकाल-में नहीं हो सक्ता और परम अक्षय आनंदकी प्राप्ति होती है इससे भक्ति श्रेष्ठ कर्त्तव्य कार्य है ॥ २१ ॥

तदेव कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात् ॥ २२ ॥

सं० टी०—कर्मिज्ञानियोगिभ्य आधिक्यशब्दात् आ-धिक्यकथनात् तत् एव भजनं भक्तिकार्यं मुख्यम् । तच्छब्देन अन्वयशक्तित्वात् भक्तिविशेषणत्वमपि युक्तम् । भक्तिमुख्यत्वं गीतायां तथा चोक्तं अ० ६ श्लो० ४६।४७ "तपस्विभ्योऽधिको योगी ज्ञानिभ्योऽपि मतोऽधिकः । कर्मि-भ्यश्चाधिको योगी तस्माद्योगी भवार्जुन ॥ १ ॥ योगिना-मपि सर्वेषां मद्गतेनांतरात्मना । श्रद्धावान् भजते यो मां स मे युक्ततमो मतः ॥ २ ॥ इति " ॥ २२ ॥

भाषा—कर्मी (कर्मकांडी) ज्ञानी (ब्रह्मज्ञानी) और योगी (यो-गाभ्यासी) इन सबसे भक्तिकी अधिकता कही है इससे भक्ति ही

मुख्य है । देखो श्रीगीताजीके छठे अध्यायके ४६।४७ श्लोकमें श्रीभगवान्‌ने कहा है कि तपस्वीसे योगाभ्यास करनेवाला योगी अधिक है और ज्ञानी (ब्रह्मज्ञानी) से भी योगी श्रेष्ठ है और कर्मकांडी यज्ञादि कर्म करनेवालेसे भी योगी ही श्रेष्ठ होता है इससे हे अर्जुन ! तू योगी हो । परंतु समस्त योगियोंमें भी मुझमें मन लगाकर श्रद्धापूर्वक जो मेरा भजन करता है वह भक्त मुझे सबसे श्रेष्ठ है इस कारण भक्ति ही सबसे श्रेष्ठ है इसमें संदेह नहीं ॥ २२ ॥

प्रश्ननिरूपणाभ्यामाधिक्यसिद्धेः ॥ २३ ॥

सं० टी०—शास्त्रे प्रश्ननिरूपणाभ्यां भक्तेरेवाधिक्यसिद्धिः । यथा गीतायां अ० १२ अर्जुनस्य प्रश्नः "एवं सततयुक्ता ये भक्तास्त्वां पर्युपासते । ये चाप्यक्षरमव्यक्तं तेषां के योगवित्तमाः ॥" इति । अस्योत्तरे भगवता कृष्णेन निरूपितं "मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते । श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः ॥" इति । अतोऽपि भक्तिर्मुख्या ॥ २३ ॥

भाषा—प्रश्न और निरूपणसे भी भक्तिकी ही अधिकता पाई जातीहै । शास्त्रमें अनेक जगह ऐसे प्रश्नोत्तर हैं जैसे गीताके १२ अध्यायमें भी अर्जुनने प्रश्न कियाहै कि जो भक्तिसे आपकी

उपासना करते हैं और जो अव्ययब्रह्मकी (ज्ञानरूप) उपासना करते हैं इनमें कौन श्रेष्ठ है इसके उत्तरमें कृष्ण भगवान्ने कहाहै कि जो श्रद्धासे मुझमें मन लगाकर नित्य युक्त मेरी उपासना (भक्ति) करतेहैं वेही मुझे श्रेष्ठ हैं बस इसमें भी ब्रह्मज्ञानकी अपेक्षा भक्तिही परम श्रेष्ठ ठहरी ॥ २३ ॥

नैव श्रद्धा तु साधारण्यात् ॥ २४ ॥

सं०टी०—भक्तिस्तु श्रद्धा नैव कुतः साधारण्यात् । श्रद्धा गुरुदेवादिषु विश्वासः इति शब्दस्तोमः । सा श्रद्धा तु साधारणरूपा अनेकेषु समानरूपा दृश्यते परंतु परा भक्तिस्तु अनन्ये एकस्मिन्नेव । अतो भक्तेराधिक्यम् ॥ २४ ॥

भाषा—पराभक्ति श्रद्धा नहीं कहला सक्ती क्योंकि श्रद्धा साधारण है । श्रद्धा गुरु देवादिकोंमें विश्वास होनेको कहते हैं सो श्रद्धा साधारणरूप बहुतोंमें होसक्ती है, परंतु पराभक्ति जिसमें होगी एकहीमें होगी अर्थात् जिसमें पराभक्ति होगी उसके समान कोई दूसरा प्रतीत होगा ही नहीं इससे श्रद्धासे पराभक्तिका पद विशेष ऊँचा है ॥ २४ ॥

तस्यां तत्त्वे चानवस्थानात् ॥ २५ ॥

सं०टी०—तस्यां भक्तौ तत्त्वे श्रद्धात्वे सति च अनवस्थानम् तस्मात् । अनवस्थानम् अनवस्था 'यत्र तर्के उप-

पाद्योपपादकयोर्विश्रांतिर्नास्ति तादृशतर्कस्य अनवस्थादोषः तेन स तर्को न ग्राह्यः।' श्रद्धा देवगुर्वादावनेकस्था पराभक्तिस्तु एकस्मिन्नेव तस्मात् श्रद्धातो भक्तिरन्या "श्रद्धाभक्तिसमन्वितः " इत्यादिवाक्येषु शास्त्रेऽपि प्रत्यक्षतया भेदो दृश्यते ॥ २५ ॥

भाषा–भक्ति और श्रद्धाको एक समझनेमें दोष होता है इससे भक्तिका पद श्रद्धासे उत्कृष्ट है । भक्ति और श्रद्धा भिन्नभिन्नार्थद्योतक है । क्योंकि श्रद्धा गुरुदेवादि अनेकोंमें न्यूनाधिकरूपसे हो सक्ती है। परंतु पराभक्ति सिवाय एकके नहीं हो सकती। और जबतक अनेक जगह भक्ति है तबतक वह पराभक्ति कहलाही नहीं सकती। इसीसे इनको एकार्थमें लेनेसे अनवस्थादोष होता है अनवस्था उसे कहते हैं जहां उपपाद्य और उपपादकमें ठीक समानाधिकरण नहीं हो । देखिये इसीसे हमारे शास्त्रोंमें भक्ति और श्रद्धाको दो लिखा है। जैसे बहुत जगह आताहै कि श्रद्धा और भक्तिसे अमुक कार्य करे ॥ २५ ॥

ब्रह्मकांडं तु भक्तौ तस्यानुज्ञानाय सामान्यात्॥२६॥

सं०टी०–ब्रह्मकांडं तु भक्तौ एव तस्य अनुज्ञानाय सामान्यं तस्मात् ब्रह्मकांडं ब्रह्मविषयकं कांडं भक्तौ भक्त्यर्थं

तद्वज्ज्ञानस्य सामान्यत्वं दृश्यते । ज्ञानायेति षष्ठ्यर्थे चतुर्थी ॥ २६ ॥

भाषा—वेदका परभाग ब्रह्मकाण्ड भक्तिहीके लिये है और ज्ञानकांडका वर्णन उससे पहले सामान्य रूपसे है । यदि च ज्ञानकी उत्कृष्टता होती तौ वेदश्रुतियोंमें ज्ञानकांडके अगाडी भक्तिका वर्णन न होता अर्थात् ज्ञानके अगाडी फिर भक्तिकी अवस्थाका अधिकार है इसीसे भक्ति उत्कृष्ट है ॥ २६ ॥

इति प्रथमाध्यायः समाप्तः ॥ १ ॥

द्वितीयोऽध्यायः ॥ २ ॥

बुद्धिहेतुप्रवृत्तिराविशुद्धेरवघातवत् ॥ २७ ॥

सं० टी०—बुद्धिः ईश्वरप्रमितिः तद्धेतूनां श्रवणमननादीनां प्रवृत्तिः आविशुद्धेः विशुद्धिपर्यंतमेव यावद्भक्तेर्दार्ढ्यं न भवेत्तावदेव बुद्धिहेतूनां श्रवणमननादीनां प्रवृत्तिरावश्यकी अवघातवत् यावत् व्रीह्यादीनां वैतुष्यं न भवेत्तावदेव मुशलादिभ्योऽवघातः कर्तव्यः मनोमालिन्यनिरासपर्यंतं यतनीयमिति फलितोऽर्थः ॥ २७ ॥

भाषा–जबतक चित्त शुद्ध होकर पराभक्तिकी अवस्था प्राप्त नहीं होती है तबतक ही बुद्धिविषयक हेतु श्रवण मनन निदिध्यासनादिकी आवश्यकता रहती है और जब चित्त शुद्ध होकर उसमें ईश्वरसाक्षात्कारिणी शक्ति (पराभक्ति) का उदय हो जाता है तब किसी भी साधनकी आवश्यकता नहीं रहती जैसे जबतक धानपरसे तुष नहीं हट जाता तबतक ही वह कूटा जाता है और तुषरहित स्वच्छ होजाने पर कूटनेकी आवश्यकता नहीं रहती है ॥ २७ ॥

तदंगानां च ॥ २८ ॥

सं०टी०–तदंगानां यमनियमादीनामपि च मनोमालिन्यनिरासपर्यन्तमेवावश्यकत्वं भवति ॥ २८ ॥

भाषा–बुद्धिविशुद्धिके लिये अंगों यमनियमादिकी भी आवश्यकता विशेष तबतक ही रहती है कि जबतक बुद्धि व चित्त शुद्ध होकर पराभक्तिका पूर्ण विकाश होजावे और चित्त शुद्ध होकर पराभक्तिका पूर्ण विकाश हो जाता है तब किसी भी अंग यम नियमादि साधनकी आवश्यकता नहीं रहती ॥ २८ ॥

तामैश्वर्यपरां काश्यपः परत्वात् ॥ २९ ॥

सं०टी०–काश्यपः ता बुद्धिं ऐश्वर्यपरां निश्रेयसफलां मन्यते जीवस्य ब्रह्मणः परत्वात् । ईश्वरस्य भावः ऐश्वर्यं

अणिमाद्यष्टविधविभूतिविषयकं अवतारादिविषयकं नामगु-णरूपादिकं च परां तद्विषयिणीं काश्यपः द्वैतमतप्रकाशक आद्याचार्यः परत्वात् भिन्नत्वात् ॥ २९ ॥

भाषा—द्वैतमतके प्रवर्तक महर्षि काश्यप बुद्धिका ईश्वरके भावोंमें तत्पर होजाना ही पराभक्ति है ऐसा मानतेहैं अर्थात् ईश्वरके नाम-रूपगुणादि जैसे कि अवतारादिमें प्रतीत होते हैं उनमें पूज्यपूजक किंवा सेव्यसेवकभावसे बुद्धिका तत्पर होजाना ही पराभक्ति है महर्षि काश्यपजी द्वैतमतके प्रवर्तक हैं इसलिये ये ईश्वर तथा उसके प्राकृतिक ऐश्वर्य नाम रूप गुणादिको सदा सेव्य और भक्तको सदैव तत्पर अनन्यसेवक होना ही मुख्य मानते हैं ॥२९॥

आत्मैकपरां बादरायणः ॥ ३० ॥

सं०टी०—बादरायणः तां आत्मैकपरां मन्यते । बाद-रायणो व्यासः तां बुद्धिं आत्मैकपरां शुद्धात्मविषयिणीं बादरायणो अद्वैतमतप्रकाशकः वेदांतसूत्रकारः तथा च आत्मा वारे द्रष्टव्यः श्रोतव्यो मन्तव्यो निदिध्यासितव्य इति ॥ ३० ॥

भाषा—महर्षि बादरायण व्यासजी बुद्धिका आत्मपर होना अर्थात् आत्माका ज्ञान होकर साक्षात्कार होजाना ही मुख्य परम

पुरुषार्थ है यही पराभक्ति है ऐसा मानते हैं इनके अद्वैत मतमें जीवका द्वैतरूपी भ्रम दूर होके सत् चित् आनंद रूप आत्मज्ञान ही मुख्य है जैसे कि इन्होंने वेदांतसूत्रोंमें प्रतिपादन किया है जैसा कि उपनिषदोंमें कहाहै कि आत्मा द्रष्टव्य है श्रोतव्य है मंतव्य है और निदिध्यासितव्य है ॥ ३० ॥

उभयपरां शांडिल्यः शब्दोपपत्तिभ्याम् ॥ ३१ ॥

सं०टी०—शांडिल्यः उभयपरां मन्यते शब्दोपपत्तिभ्याम् । महर्षिशांडिल्यः सूत्रकारः तां उभयपरां ऐश्वर्यपरां आत्मैकपरां च मन्यते । शब्दो वेदः आप्तोक्तिश्च उपपत्तिस्तर्कसिद्धिः । यथा मायोपहितजीवस्य त्वैश्वर्यपराभक्तिः कर्तुं योग्या मायावरणराहित्यावच्छिन्नस्य जीवस्यात्मारामावस्थायामात्मपरेति फलितोऽर्थः । अनेन विशिष्टाद्वैतपरता सूचिता । वस्तुतस्तु भक्तेरुभयपरत्वमेव श्रुतिस्मृतिपुराणादिषु सर्वत्र प्रतिपादितं तथाच श्रुतिः “ यो ब्रह्माणं विदधाति पूर्वं यो वै वेदांश्च प्रहिणोति तस्मै तं ह देवमात्मबुद्धिः प्रकाशं मुमुक्षुर्वै शरणमहं प्रपद्ये ” तथा च गीतायां “ममैवांशो जीवलोके जीवभूतः सनातनः । ” इति ॥ ३१ ॥

भाषा-सूत्रकारमहर्षिशांडिल्य दोनों प्रकारसे भक्ति मानतेहैं ऐश्वर्यपरा भी और आत्मैकपरा भी । ये कहते हैं कि शब्द अर्थात् वेद और यथार्थवादी महात्माओंके वचनोंसे तथा तर्कसिद्धसे दोनोंही प्रकारकी भक्ति सिद्ध होतीहै जैसे मायाके आवरणसे आच्छादित जीवोंको ऐश्वर्यपरा नामगुणरूपादिसंपन्न जगन्नियंता ईश्वरमें परा भक्ति करनी योग्य है और जिनका मायाका आवरण दूर होगया सब प्रकार रागादिकी निवृत्ति होगई हो उस आत्मारामावस्थामें आत्मपरा भक्ति अर्थात्-आत्मज्ञान आत्माचिंतनरूप परा भक्ति कर्तव्य है इन दोनोंहीको माननेसे महर्षि शांडिल्यजीकी विशिष्टाद्वैतपरता सूचित होतीहै । और यही ठीकभी है कि श्रुति स्मृति पुराण आदि सभीमें दोनों प्रकारकी ही भक्ति प्रतिपादन करी है, जैसे श्रुतिमें कहाहै कि जो ईश्वरसृष्टिकी आदिमें ब्रह्माको धारण करताहै और उसको वेदोंका ज्ञान देताहै उस आत्मबुद्धिप्रकाशक देव परमात्माकी शरण मुमुक्षु होवे तथा श्रीगीतामें ऐसा उपदेशभी भगवान्ने किया है कि मेराही सनातन अंश प्राणियोंके हृदयमें जीवरूप होकर रहता है इन दोनों बातोंसे दोनों ही प्रकारकी भक्ति अवस्थाभेदसे ठीक है ॥ ३१ ॥

वैषम्यादसिद्धमिति चेन्नाभिज्ञानवदवैशिष्ट्यात् ३२॥

सं०टी०-वैषम्यात् उभयपक्षप्रतिपादनात् एतद्विषयं असिद्धं इति चेत् न अभिज्ञानवत् अवैशिष्ट्यात् । भक्तेरैश्वर्यपरत्वं आत्मैकपरत्वं चोभयपक्षरूपवैषम्यात् एतद-

सिद्धं न भवितुमर्हति कुतः अभिज्ञानवैशिष्ट्यात् । अभिज्ञा-नवैशिष्ट्येनैव वैषम्यप्रतीतिः न तु वस्तुतः । तथा चोक्तं भगवता कृष्णेन गीतायां दशमेऽध्याये " अहमात्मा गुडा-केश सर्वभूताशयस्थितः । " इत्यात्मविषयः । तत्रैव तथा चोक्तं " अहं सर्वस्य प्रभवो मत्तः सर्वं प्रवर्तते । इति मत्वा भजंते मां बुधा भावसमन्विताः ॥" इत्यैश्वर्यविषयः फलतः सर्वशक्तिसंपन्ने परमात्मनि न तु वैषम्यभावः ॥ ३२ ॥

भाषा—वैषम्य (उयभपक्षप्रतिपादन) अर्थात् भक्तिको ऐश्वर्यप-रत्व और आत्मैकपरत्व दोनों पक्ष प्रातिपादन होनेसे ईश्वरके ऐश्वर्यमें अथच आत्मत्वमेंसे किसी एकमें असिद्धि प्रतीत है ऐसा नहीं है क्योंकि जैसे अविशेष अभिज्ञान जिसमें विषमता दीखने पर भी असिद्धता या विरोध वास्तवमें नहीं होते जैसे कि कोई आम्रको अम्ल कहे और कोई मधुर तो इसमें अम्लता और मधुरतामेंसे किसीमें असिद्धि नहीं है और न विरोध है क्योंकि वही आम्र अपक्क दशामें अम्ल है और परिपक्क दशामें मधुर है ऐसे ही ईश्वर ऐश्वर्यवान् भी है और आत्मरूप भी है जैसा कि भगवान्ने गीताके दशवें अध्यायमें स्वयं श्रीमुखसे कहा है कि हे अर्जुन ! मैंही सब प्राणियोंके हृदयमें आत्मरूपसे स्थित रहता हूं यह तो आत्मपर विषय हुआ और फिर वहां ही कहा है कि

सब संसारका उत्पन्न करनेवाला हूं मुझसे ही सब संसारकी प्रवृत्ति होती है मुझको ऐसा समझकर भावसहित जो मेरा भजन भक्ति करते हैं वेही ज्ञाता विद्वान् हैं यह ऐश्वर्यपर विषय हुआ अस्तु । जीवावस्थामें मायोपहित अल्पज्ञ आत्मा ईश्वरांश है और कर्तावस्थामें सर्वैश्वर्यसंपन्न पूर्ण सर्वज्ञ ईश्वर है इससे ईश्वरमें कोई वैषम्य दोष नहीं है ॥ ३२ ॥

न च क्लिष्टः परः स्यादनंतरं विशेषात् ॥ ३३ ॥

सं० टी०—परश्च क्लिष्टः न स्यात् अनंतरं विशेषात् । परः परमात्मा क्लिष्टः क्लेशयुक्तः न स्यात् कुतः अनंतरं विशेषात् आत्मावस्थायां अविद्यासंपन्नजीवत्वोपाधिसुखदुःखादिक्लेशयुक्तः ईश्वरावस्थायां च कर्तृत्वगुणविशिष्टादिनानोपाधिरूपक्लेशयुक्तः स्यात्तन्न अनंतरं विशेषात् । अनंतरं बुद्ध्यनंतर क्लेशादेरात्मसंबंधिरूपविशेषदर्शनात् । वस्तुतस्तु आत्मा न च क्लेशादितो लिप्तः स्यात् तदुक्तं गीतायाम् "अनादित्वान्निर्गुणत्वात्परमात्मायमव्ययः । शरीरस्थोऽपि कौन्तेय न करोति न लिप्यते ॥" तथा चोक्तं "रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां न चात्मनि । सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद्बुद्धेर्न चात्मनः ॥" अतो नैवात्मा सुखदुःखा-

रचना पालन संहारादि ऐश्वर्यों में भी क्लेश नहीं होता क्योंकि ईश्वर सदा स्वतंत्र है और ये उसके स्वाभाविक भाव हैं और स्वाभाविकसे क्लेश नहीं होता जैसे अग्निमें तीक्ष्ण गरमाई और सर्पके मुखमें विष स्वाभाविक ही होते हैं, जिससे उन्हें कुछभी क्लेश नहीं होता । हां जो अस्वाभाविक आगंतुक ऐश्वर्यादिक भाव होते हैं वे सभी सुखदुःखरूप उपाधि और क्लेशरूप होतेही हैं इसमें संदेह नहीं परंतु परमेश्वरमें कर्तृत्वादि भाव उत्पत्ति पालन संहारादि ऐश्वर्य सभी स्वतंत्र और स्वाभाविक होनेसे क्लेशरूप नहीं होते ॥ ३४ ॥

अप्रतिषिद्धं परैश्वर्यं तद्भावाच्च नैवमितरेषाम्॥३५॥

सं०टी०—परैश्वर्यं परमेश्वरस्यैश्वर्यं अप्रतिषिद्धं अखंडरूपकं तद्भावात् च इतरेषां जीवानां नैवम् । परस्य परमेश्वरस्य ऐश्वर्यं परैश्वर्यं न कदाचिदपि निषिद्धं अखण्डरूपकमित्यर्थः । कुतः तद्भावात् ईश्वरीयभावात् पूर्णशक्तिमत्तया च इतरेषां जीवानामैश्वर्यं च अल्पशक्तिमत्तया नैवं किंतु प्रतिषिद्धरूपकं क्षणिकमेव ॥ ३५ ॥

भाषा—परमेश्वरका ऐश्वर्य कभी भी प्रतिषिद्ध अर्थात् निषेधरूप नष्ट नहीं होता, सदा अखंड बनाही रहता है । क्योंकि ईश्वरका ऐश्वर्य ईश्वरीय स्वभावरूप है और परमेश्वर सदा पूर्णशक्ति-

संपन्न है इससे उसका ऐश्वर्य कभी क्षय नहीं होता । हां इतर जीवोंका ऐश्वर्य ऐसा अखंड नहीं होसक्ता क्योंके जीव अल्पशक्तिमान् है इससे इसका ऐश्वर्यभी प्रतिषिद्धरूप क्षणिक है ॥३५॥

सर्वानृते किमिति चेन्नैवं बुद्ध्यानंत्यात् ॥ ३६ ॥

सं०टी०—सर्वानृते सर्वप्रतिषेधे किमिति ऐश्वर्यं किमिति चेत् तन्न बुद्ध्यानंत्यात् । सर्वप्रतिषेधे सर्वानंगीकरणे मुक्तावेव यततव्यमिति मन्यमाने ऐश्वर्येण किमिति चेत् तन्न कुतः बुद्धेरानंत्यात् सत्वरजस्तमसां न्यौनाधिक्येन बुद्धेरानंत्यभावात् रजःप्रधानबुद्धिमद्भक्तानां तु ऐश्वर्यानंतरं मुक्तिस्पृहा स्यादित्यादि । अत्रैश्वर्यपदं पूर्वसूत्रादनुवर्तनीयम् ॥ ३६ ॥

भाषा—सबको प्रतिषेध कर अनंगीकार करने और केवल मुक्तिहीका यत्न करना ऐसाही मानलेवे तौ क्या अर्थात् ऐश्वर्यसे प्रयोजन ही क्या इसपर सूत्रकार कह रहे हैं कि ऐसा नहीं है, क्योंकि जीवोंकी बुद्धियोंमें अनंतता है, सभी जीवोंकी बुद्धि अनंत प्रकारकी होती है अर्थात् अनंत कामनावाली जीवोंकी बुद्धि होती है सत्वरजतमकी न्यूनता अधिकता आदिसे जीवोंकी बुद्धि और लालसाओंमें बडा अंतर है और रजोगुणप्रधान

बुद्धिवाले भक्तोंको तौ ऐश्वर्यके अनंतर ही मुक्तिकी अभिलाषा हो सकती है ॥ ३६ ॥

प्रकृत्यंतरालादवैकार्यं चित्सत्त्वेनानुवर्तमानात् ३७॥

सं०टी०—ननु कर्तृत्वाद्यैश्वर्यवत्त्वे परमात्मा विकारवान् भवति तत्राह चित् अवैकार्यं कुतः प्रकृत्यंतरालात् । प्रकृतेः पार्थक्यभावात् सत्त्वेन अनुवर्तमानात् चित् चैतन्यरूपं ब्रह्म प्रकृतिः जडकार्यमात्रोपादानम् । संसारस्योपादानकारणमित्यर्थः । अंतरालं अभ्यंतरार्थे इति शब्दस्तोमः । न अंतरालं अनंतरालं पार्थक्यमिति भावः । सत्त्वं सांख्यसिद्धे प्रकाशादिसाधने प्रकृत्यवयवे न्यायोक्ते सत्तारूपे च इति शब्दस्तोमः । सृष्ट्यादौ प्रकृतिरेव विकार्या न तु स्फुरणरूपचैतन्यसत्तया प्रकृत्यनुगतत्वेन च परस्य कर्तृत्वादि न च प्रकृतिरेव सत्तेति वक्तुं शक्यते किंच मायाशक्तिमंतरालीकृत्य परस्य कर्तृत्वादिस्वाभाव्यं भवति न तु विकार्यता नैव क्षीरादिवत् न कनककुंडलादिवच्च स्वरूपपरिवर्तनेन विकारित्वम् । किंतु घटं प्रति निमित्तकारणवत्त्वेन कुलालवत् परस्य कर्तृत्वमुपपद्यते तच्चास्तु ॥ ३७ ॥

भाषा–शंका होतीहै कि कर्तापन इत्यादि ऐश्वर्ययुक्त परमात्मा हो तौ वह विकारवान् होगा इसपर सूत्रकार कहतेहैं कि चित् अर्थात् चैतन्य ब्रह्म परमात्मा विकारवान् नहीं है क्योंकि वह प्रकृतिसे पृथक् है कभी लिप्त नहीं होता और सत्त्व अर्थात् प्रकाशादि साधनरूप प्रकृतिके अवयवोंके अनुगत चैतन्य सत्तासे वर्तमान रहताहै । प्रयोजन यह कि सृष्टिके समय प्रकृतिहीमें विकार होताहै और चैतन्यरूप परब्रह्म परिस्फुरणरूप हो प्रकृतिमें प्रकाशमात्र होनेसे उसको कर्तृत्वादि विकारवान् नहीं कहसक्ते और प्रकृति जडमात्र समस्त संसारका उपादान कारण हो चैतन्य ब्रह्म की सत्तामात्रसे विकारवती होतीहै प्रकृतिको सत्तारूप नहीं कहसक्ते । हां प्रकृतिमें प्रेरक चैतन्यरूप परब्रह्मका आभास होनेसे जो कर्तृत्वादि प्रतीत होताहै वह उसका स्वाभाविक है विकाररूप नहीं है जैसे रूप परिवर्तन होकर दुग्धका दधि तक्रादि और सुवर्ण कंकण कुंडलादि होजाताहै ऐसे परमात्मा विकृत नहीं होता किंतु जैसे घटके प्रति कुंभकार निमित्त कारणरूप कर्ता होताहै वैसेही परमेश्वरमें भी सृष्टिके प्रति निमित्त कारणरूप कर्तृत्वभाव होसक्ताहै सो रहो ॥ ३७ ॥

तत्प्रतिष्ठा गृहपीठवत् ॥ ३८ ॥

सं॰टी॰–ननु परब्रह्मणि विकाररराहित्ये विकारादीनां क प्रतिष्ठा तथा च तस्मिन् सर्वं प्रतिष्ठितं इत्यादि श्रुतिवाक्यविरोधस्तत्राह तत्प्रतिष्ठेति । तत्प्रतिष्ठा तेषां विकारादीनां

संसृतिव्यापारादीनां प्रतिष्ठा गृहपीठवज्ज्ञेया । एवं तस्मिन् ब्रह्मणि विकारप्रतिष्ठानमविरुद्धम् । यथा गृहमध्यगतपीठोपरि स्थितोऽपि गृहे तिष्ठतीतिवत् विकारादयः प्रकृतिस्थाः प्रकृतिश्चेश्वरीयसत्ताश्रयेण जगद्रचनादिकं करोति अतो रचनादिविकारा प्रकृतिश्च चित्सत्ताश्रयीभूता एव यथा मृत्सत्वेऽपि घटादीनां संसृतौ मृत्साहित्येन घटादीनां करणरूपव्यापारादयश्च सर्वे कुंभकाराश्रयीभूता एव ॥ ३८ ॥

भाषा—शंका होती है कि परमात्मा विकाररहित है तो फिर विकारादिकोंकी प्रतिष्ठा कहां है अर्थात् विकारादि कहां रहतेहैं और श्रुतियोंमें ऐसा कहाहै कि उस ब्रह्महीमें सब कुछ प्रतिष्ठित है इस वाक्यमें विरोध आवेगा इसपर महर्षि कहते हैं कि तत्प्रतिष्ठा अर्थात् उन विकारादि संसारके व्यापारोंकी प्रतिष्ठा घर और पीढीकी भांति जानो इस तरह उस ब्रह्ममें विकारोंका मानना विरुद्ध भी नहीं होगा जैसे घरमें रक्खी हुई पीढी (चौकी) पर बैठा हुआ मनुष्य घरमें ही होताहै घरसे बाहर नहीं अर्थात् पीढी पर बैठा हुआ मनुष्य और पीढी दोनोंही घरमें हैं। प्रयोजन यह कि विकार प्रकृतिमें हैं और प्रकृति ईश्वरीय सत्ताके आश्रयसे जगत्की रचना आदि करती है इससे जगत्की रचनादि विकार और उपादान रूप प्रकृति दोनोंही चित्सत्ताके आश्रय हैं जैसे घट

दिकी रचनाके समय मिट्टी होनेपर भी मिट्टीसहित घटादि रचनाके सभी व्यापार कुंभकारके ही आश्रय होतेहैं और कुंभकार स्वतंत्रतासे जैसे जैसे चाहे घटादिकी रचना करताहै अर्थात् कुंभकार घटादिका कर्ता होकर भी विकृत नहीं होता और घटादिसे पृथक् रहताहै ॥ ३८ ॥

मिथोऽपेक्षणादुभयम् ॥ ३९ ॥

सं०टी०—मिथः अपेक्षणात् अन्योन्यापेक्षणात् 'सृष्ट्यादौ परस्पराकांक्षाभावात्' उभयमेव कारणम् । ब्रह्म प्रकृतिश्च चैतन्यत्वेन जडत्वेन च परस्परोपकरणात् उभयमेव संसारस्य कारणं स्यात् । मिथः अन्योन्यार्थेऽव्ययम् ॥ ३९ ॥

भाषा—एकको दूसरेकी आकांक्षा होनेसे जगत्के कारण पुरुष और प्रकृति दोनों ही हैं क्योंकि प्रकृति जडरूप सबका उपादान कारण है और ब्रह्म चैतन्यरूप होकर नियंता और निमित्तकारण है अर्थात् दोनोंही की परस्पर उपकारतासे ही संसार उत्पन्न होता है । किसीसे भी एकके विना संसार होही नहीं सक्ता जैसे समस्त वस्तुओंकी रचनामें मुख्य दोहीकी आवश्यकता होती है । एक सामग्री अर्थात् मसाला जिससे वह वस्तु बनाई जावे दूसरा बनानेवाला इसी प्रकार इस जगत्कीभी जडरूप संपूर्ण सामग्री प्रकृति है बनानेवाला चैतन्यरूप परमेश्वर नियंता है ॥ ३९ ॥

चेत्याचितोर्न तृतीयम् ॥ ४० ॥

सं०टी०—चेत्या प्रकृतिः चिद् ब्रह्म तयोर्भिन्नं न तृतीयम् । अस्यायमर्थः प्रकृतिभिन्ने किंचिदपि ज्ञेयत्वं न स्यात् ब्रह्मभिन्ने ज्ञातृत्वमपि न । सर्वज्ञातृत्वं ब्रह्मण्येव ज्ञेयत्वं प्रकृतौ च तृतीयत्वादीनि सर्वाणि विकृतिमात्राणि चोभयोः संबंधादेव प्रकृतिपुरुषयोरसंबंधे च सर्वकार्यविलोपः स्यात् ॥ ४० ॥

भाषा—चेत्या प्रकृति और चित् ब्रह्म इनसे भिन्न तीसरा कोई नहीं है इसका प्रयोजन यह है कि प्रकृतिसे पृथक् कोई भी ज्ञेय पदार्थ नहीं है और ब्रह्मसे भिन्न कोई भी ज्ञाता नहीं अर्थात् सर्वत्र ही ज्ञातारूप ब्रह्म है और ज्ञेयरूप प्रकृति है इससे संसारके येही दो कारण हैं तथा तृतीयादिक सब जगत्के पदार्थ विकारमात्र हैं और इन्हींके संयोग संबंधसे होते हैं और प्रकृति पुरुषका संयोग संबंध नहीं हो तौ कुछभी नहीं होता ॥ ४० ॥

युक्तौ च सम्परायात् ॥ ४१ ॥

सं०टी०—युक्तौ प्रकृतिपुरुषयोः संयोगे च संपरायः स्यात् तस्मात् । तौ प्रकृतिपुरुषौ परस्परं प्रतिसंबंधरूपौ स्तः

न तु कश्चित् आगंतुकः कुतः संपरायात् अनादित्वात् तथा चोक्तं गीतायां त्रयोदशाध्याये "प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि । विकारांश्च गुणांश्चैव विद्धि प्रकृतिसंभवान् ॥" इति ॥ ४१ ॥

भाषा–सृष्टिके आरंभहीसे प्रकृतिपुरुषके संयोगमें अनादित्व है इससे ये दोनों ही अनादि हैं इनमेंसे कोई भी आगंतुक नहीं है देखो भगवद्गीता त्रयोदशाध्यायमें भी लिखाहै कि प्रकृति और पुरुष दोनोंहीको अनादि समझो और विकार तथा गुण सत्व रजः तम ये प्रकृतिसे उत्पन्न समझो ॥ ४१ ॥

शक्तित्वान्नानृतं वेद्यम् ॥ ४२ ॥

सं०टी०–वेद्यं प्रकृतिरूपकं प्रधानं ज्ञेयं अनृतं न स्यात् कुतः शक्तित्वात् । वेद्यं प्रकृतिरूपकमुपादानं न मिथ्या भवितुमर्हति कस्मात् शक्तित्वात् शक्तिप्रकृतिसत्त्वादनादिः अनादित्वान्नानृतमिति भावः ॥ ४२ ॥

भाषा–वेद्य अर्थात् प्रकृतिरूप प्रधान ज्ञेय पदार्थ भी अनृत (मिथ्या) नहीं क्योंकि शक्ति होनेसे और शक्ति प्रकृतिरूप उपादान सामर्थ्य है और अनादि है, और अनादि है सो मिथ्या नहीं अथवा जैसे मायावी मायाशक्तिके विना कुछभी नहीं करसक्ता

तौ मायावीकी शक्ति भी मिथ्या नहीं इसी प्रकार ईश्वर भी माया शक्तिसे ही जगत्की रचना करताहै तौ ईश्वर और मायाशक्ति दोनों सत्य हैं अर्थात् जब परमेश्वर सत्य है तौ उसकी शक्ति भी सत्य ही है। द्वैताद्वैतादिकी प्रासंगिक चर्चा यहां समाप्त हुई अब पुनः मुख्य प्रकरण भक्तिका वर्णन करते हैं ॥ ४२ ॥

तत्परिशुद्धिश्च गम्या लोकवल्लिंगेभ्यः ॥ ४३ ॥

सं०टी०—तत्परिशुद्धिः च लोकवल्लिंगेभ्यो गम्या तत्परिशुद्धिः तस्याः बुद्धेः भक्तेश्च परिशुद्धिः तत्परिशुद्धिः लोकवल्लिंगेभ्यः सांसारिकप्रेमवत् चिह्नेभ्यः गम्या यथा लोके प्रेमतारतम्यं तथैव भगवत्कीर्तनादौ पुलकाश्रुपातादिभिर्भावैः भगवत्प्रेमरूपायाः भक्तेः प्रामाण्यमनुमीयते न केवलं लोकवच्चिह्नानि किंतु महर्षीणां स्मृतिभ्योऽपि तानि लिंगानि प्रायशो लक्ष्यंते। रसरूपायाः भक्तेः विभावानुभावादयो भावाः सिद्धाः। रसो नवधा शृंगारवीरकरुणाद्भुतहास्यभयानकबीभत्सरौद्रशांतभेदात् भावा अपि स्थायिभावसंचारिभावविभावानुभावभेदादनेकधा । विशेषेण भावयंति उत्पादयंति रसमिति विभावाः यथा स्त्रीवसंतादयः।

शृंगारस्य विभावो रसकारणमिति अनुभूयते लक्ष्यते रसो यैः इति अनुभावाः कंपप्रस्वेदाश्रुपातप्रलापप्रलयादयः ॥ प्रलयः लय इत्यर्थः । स्थिरत्वेन रसस्य भावः स्थायिभावः यथा शृंगारस्य रतिः, हासस्य हासः, करुणस्य करुणा शोकश्च, रौद्रस्य क्रोधः, वीरस्योत्साहः, भयानकस्य भयं, बीभत्सस्य घृणा, अद्भुतस्य विस्मयः, शांतस्य शमः स्थायिभावः । विशेषेण संचरन्तोऽनुभावाः संचारिणो भावाः निर्वेदावेगदैन्यादयः । विशेषतया वाग्भट्टसाहित्यदर्पणकाव्यप्रकाशादौ द्रष्टव्याः । अथवा केचित् सिद्ध्यादिकं लोकलिंगं मन्यन्ते ॥ ४३ ॥

भाषा–भक्तकी बुद्धिका परिशुद्धित्व अथच प्रेमभक्तिका प्रादुर्भाव तथा परिमाण सांसारिक प्रेमके जैसे लक्षणोंहीसे जाना जासक्ताहै अर्थात् जैसे लौकिक रसोंके अनुभाव रोमांच अश्रुपातादिकसे सांसारिक (संसारके) रसोंके प्रादुर्भावका अनुमान तथा लक्षण मनुष्योंमें प्रतीत होजाताहै उसी प्रकार भगवत्प्रेमरूपा भक्तिके प्रादुर्भावका अनुमान ईश्वरके कीर्तनादिकमें भक्तके रोमांच प्रलाप अश्रुपात लय इत्यादि सच्चे अनुभावोंके चिह्नोंसे प्रतीत होजाताहै कि किस किस भक्तमें भक्ति प्रेम कितना कितना है

अर्थात् किस भक्तकी भक्ति किस कोटीतक पहुँच गई है यह जाना जासक्ताहै और इससे ऊँची ऊँची कोटीकी भक्ति संपादनार्थ भक्त-जन यत्न और अभ्यास बढाकर पूर्ण भक्तिके उच्च पदपर पहुँच सक्तेहैं (यह केवल लौकिक प्रेमके उदाहरण मात्रही नहीं समझे किंतु वडे २ महर्षियोंके भी वचनोंसे ऐसाही पाया जाताहै कि रोमांच अश्रुपातादिकसे भक्तोंकी भक्तिके प्रादुर्भावका ठीक परि-चय मिलताहै और है भी ठीक कि प्रेमाभक्ति रसरूप है और रसोंका अनुभव भी अनुभावादि भावोंसे ही होना सिद्ध है.) प्रसंगवश कुछ रसों और अनुभावादिक भावोंका वर्णन करना भी यहां उचित है क्योंकि यह भी भक्तिका एक मुख्य अंग व प्रकरण है। रस ९ हैं शृंगार, वीर, करुणा, अद्भुत, हास्य, भयानक, बीभत्स, रौद्र और शांत (कई दशवां वात्सल्य रस भी मानतेहैं) और भाव भी विभाव अनुभावके भेदसे प्रायः दो प्रकारके होते हैं उनमें प्रथम विभाव उसे कहतेहैं जो उस रसका कारण हो, उस विभावके दो भेद हैं एक आलंबन विभाव दूसरे उद्दीपन विभाव। आलंबन विभाव उस रसका आलंबरूप मुख्य कारण होताहै जैसे शृंगार रसका आलंबन विभाव स्त्री है और उद्दीपन विभाव उन्हें कहतेहैं जो उस रसको उद्दीपन करें जैसे वसंतादि शृंगारके उद्दीपन विभाव हैं। और जिससे उस रसका अनुभव हो प्रादुर्भाव जानाजावे उसे अनुभाव कहते हैं। अनुभाव भी दो प्रकारके होतेहैं एक स्थायि भाव दूसरे संचारिभाव। जो उस रसका निश्चल रूप अनुभाव हो वह स्थायिभाव कहलाता है और जो जो अनुभाव स्थिररूप नहीं रह

कर कभी हों कभी नहीं वे संचारिभाव कहलाते हैं जैसे शृंगाररसका स्थायिभाव रति है और हास्यका हास, करुणाका दया तथा शोक, रौद्रका क्रोध, वीरका उत्साह, भयानकका भय, बीभत्सका घृणा, अद्भुतका विस्मय और शांतका शम स्थायिभाव हैं और रोमांच अश्रुपात कंप प्रलय इत्यादिक संचारी भाव हैं । इनमेंसे रजोगुण तमोगुणसे पृथक् जो मनकी वृत्ति विशेष होती हैं उन्हें सात्त्विक अनुभाव कहते हैं जैसे स्तंभ स्वेद रोमांच कंप स्वरभंग वैवर्ण्य अश्रुपात और प्रलय अर्थात् लय तन्मय होजाना इस भांति ये ८ सात्त्विक अनुभाव कहलाते हैं, जो भक्तिमें मुख्य हैं । विशेष हमारी रचित वाग्भटालंकारकी टीकामें देखें । कई लोकवत्-चिह्न ऋद्धि सिद्धि आदि संसारी ऐश्वर्य भक्तको जितना हो उतनी ही उत्कृष्टता मानते हैं कि सब ऋद्धि सिद्धि प्राप्त होकर भी भक्त उनमें फँसे नहीं तभी भक्ति समझें ॥ ४३ ॥

सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्यातितदर्थप्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि च स्मरणेभ्यो बाहुल्यात् ॥ ४४ ॥

सं॰टी॰—सम्मानबहुमानप्रीतिविरहेतरविचिकित्सामहिमख्यातितदर्थप्राणस्थानतदीयतासर्वतद्भावाप्रातिकूल्यादीनि भक्तेर्लक्षणानि भवंति कस्मात् स्मरणेभ्यो बाहुल्यात्

एषु भक्तिलक्षणेषु स्मरणेभ्यः आधिक्यमिति भावः । सम्मानं समादररूपकं तच्च अर्जुनस्य भक्तेर्लक्षणम् । बहुमानं बहुत्वेन मानरूपं इक्ष्वाकोः । प्रीतिः प्रेम विदुरस्य । विरहः श्रृंगाररसस्य विप्रलंभाख्यो वियोगः यथा व्रजगोपिकानाम् । इतरविचिकित्सा अन्यस्यानपेक्षा यथा उपमन्योः । महिमख्यातिः गुणवर्णनं यथा व्यासस्य । तदर्थप्राणादिस्थितिस्तदर्थमेव प्राणधारणं यथा हनुमतः । तदीयता तदीयोऽहमिति भावः यथा बलेः । सर्वतद्भावः सर्वं तदेवेति भावः यथा प्रह्लादस्य । अप्रातिकूल्यं सदैव प्रतिकूलतादितो राहित्यं यथा भीष्मस्य ॥ ४४ ॥

भाषा–भगवत्स्मरणके बाहुल्यसे भक्तोंकी भक्तिके भेद अनेकधा हैं । यथा १ सम्मान आदरके साथ प्रेमबुद्धि रखना जैसे अर्जुनका प्रेम श्रीकृष्ण भगवान्में था । २ बहुमान बहुत मानके साथ प्रेम करना जैसे इक्ष्वाकुका प्रेम कि कमल देख भगवत्के नेत्रोंमें मेघ देखकर भगवान्के वर्णमें प्रेम उत्पन्न होजाताथा । ३ प्रीति विदुरकी प्रसिद्ध है ही । ४ विरह सो व्रजगोपियोंका जगत्में विख्यात है । ५ इतरविचिकित्सा दूसरेकी अपेक्षाही नहीं रखना जैसे शिवभक्त उपमन्युकी कि शिवजीकी आज्ञासे कृमि पतंग होना मुझे अच्छा

किंतु अन्यका दिया त्रैलोक्य राज्यभी कुछ नहीं । ६ महिमख्याति ईश्वरकी महिमाका वर्णन सो व्यासजीका तथा कलियुगमें गोस्वामी तुलसीदासजीका उदाहरण है । ७ तदर्थप्राणस्थान उसके अर्थही जीना जैसे हनूमान्जी, कलियुगमें मीराबाई । ८ तदीयता मैं उसीका हूं मेरा सर्वस्वभी उसीका है ऐसी बुद्धि रखना जैसे बलीका । ९ सर्व-तद्भाव सबमें वही है सब वही है ऐसा समझना जैसा प्रह्लादजीका । १० अप्रातिकूल्य कभी भी प्रतिकूलबुद्धि न होना जैसे भीष्मपितामहका कि सन्मुख युद्धमें भी आंतर्य प्रेम रखना, आदि शब्दसे उद्धवादिककी भक्ति भी ऐसे ही है ॥ ४४ ॥

द्वेषादयस्तु नैवम् ॥ ४५ ॥

सं०टी०—द्वेषक्रोधादयोऽनुभावा एवं (पुलकाश्रुपातादिवत्) न भक्तौ समुचिताः द्वेषक्रोधादीनां समुत्पत्तिस्तु रजस्तमोभ्यामेव परिपूर्णप्रेमरूपायां, भक्तौ तु सात्त्विकास्तंभस्वेदाश्रुपातलयादयोऽनुभावा एव भक्तिपरिशुद्धिरूपका ज्ञेयाः । अथवा द्वेषादयो मनोवृत्तिविशेषा एवं सम्मानादिवत् न च भक्तौ समादरणीयाः । द्वेषादयो भक्तानां न तु भवंतीति भावः । तथाचोक्तं महाभारते अनुशासने "न क्रोधो न च मात्सर्यं न द्वेषो नाशुभा मतिः । भवति कृतपुण्यानां

भक्तानां पुरुषोत्तमे ॥" इति । ननु शिशुपालादीनां द्वेषात् कथं मुक्तिस्तत्राह शिशुपालादीनां तु द्वेषात् अतिस्मरणं ततः पराभक्तिस्ततो मुक्तिरिति क्रमः (इति स्वप्नेश्वरः) ॥ ४५ ॥

भाषा—क्रोध द्वेषादिक भी तौ रसोंके अनुभाव हैं, परंतु नहीं, द्वेष क्रोधादिक अनुभाव रोमांच अश्रुपातादिककी भांति भक्तिमें समुचित नहीं है, क्योंकि द्वेष क्रोधादिक अनुभाव रजोगुणतमोगुणविशिष्ट मनकी वृत्तिविशेषसे होते हैं और भक्तोंकी मनोवृत्ति सत्त्वगुणविशिष्ट होती है इससे भक्तोंको सात्त्विक ही अनुभाव स्तंभ प्रस्वेद अश्रुपात लय इत्यादिक भक्तिकी परिशुद्धिरूप जानने चाहिये, न कि द्वेष क्रोधादिक अथवा द्वेषादिक । जो मनकी मलिन वृत्तिविशेष हैं वे सम्मान बहुमानादिकी भांति भक्तोंके मनमें स्थानही नहीं पाते हैं अर्थात् भक्तोंको द्वेषादिक होतेही नहीं ऐसा समझना । महाभारतके अनुशासनपर्वकी १४९ अध्यायमें लिखा है कि " सच्चे उत्तम भक्तोंको पुरुषोत्तम भगवान्में क्रोध ईर्षा द्वेष अशुभ बुद्धि इत्यादि होते ही नहीं । " और यदि हों तौ कभी शुभगति प्राप्त नहीं होती । यहां शंका है कि शिशुपालादिक द्वेष करके भी मुक्तिगामी कैसे हुए इस पर कहते हैं कि शिशुपालादिकको द्वेषसे अत्यंत स्मरण हुआ और अत्यंत स्मरण होनेसे निरंतर ध्यान तथा पराभक्तिकीसी दशा होगई और अंतमें साक्षात् भगवान्के दर्शन होनेसे तथा भगवान्की प्राक्तनी कृपासे मुक्ति प्राप्त हुई जानो और कभी २ ईश्वरके प्रति आर्त भक्तोंके उपालं

विषाद निंदादि वचन भी होतेहैं सो द्वेषबुद्धिसे नहीं किंतु जैसे स्वकीया स्त्री पतिसे और पुत्र माता पितासे झगडते हैं वैसे होते हैं ॥ ४५ ॥

तद्वाक्यशेषात् प्रादुर्भावेष्वपि सा ॥ ४६ ॥

सं०टी०—सा पराभक्तिः प्रादुर्भावेषु अपि भवति कुतः तत् वाक्यशेषत् । प्रादुर्भावेषु अवतारादिषु शिवादिगुण-स्वरूपेषु अपि सा पराभक्तिः करणीया तद्वाक्यशेषात् गीतादिषु भगवद्वाक्यशेषात् । तथा चोक्तं गीतायां "यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति । तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम् ॥" इति ॥ ४६ ॥

भाषा—प्रादुर्भावों अर्थात् भगवान्के अवतारों कृष्णादिकमें तथा गुणरूप शिव आदिमें भी पराभक्ति करनी योग्य है क्योंकि गीता आदिमें स्वयं भगवान्के ही ऐसे वचनविशेष हैं कि देखो गीता ७ अध्यायमें लिखा है कि जो जो भक्त जिस जिस रूपको श्रद्धापूर्वक पूजनेकी (भक्ति करनेकी) इच्छा करता है उसको मैं उस उसकी अचल श्रद्धा देताहूं अर्थात् ईश्वरके किसीभी अवतार या स्वरूपकी भक्ति करो उसीसे मैं प्रसन्न हो कल्याण करताहूं । (परंतु श्रद्धा और प्रेमके विना कुछ नहीं होता) ॥ ४६ ॥

जन्मकर्मविदश्चाजन्मशब्दात् ॥ ४७ ॥

सं०टी०—प्रादुर्भावाः अवतारादयश्च जन्मकर्मविदो भवंति कुतः अजन्मशब्दात् अथवा जन्मकर्मविदः अजन्मशब्दाच्च प्रादुर्भावेषु पराभक्तिः करणीया इत्यन्वयः। अत्र प्रादुर्भावेष्विति पूर्वसूत्रादनुवृत्तिर्ज्ञेया। पूर्वपक्षे तु जन्मकर्मविदः इति पदं प्रथमाबहुवचनांतम् । पक्षांतरे च पंचम्येकवचनांतेन समन्वयः । अवतारादीनामेव जन्म कर्म च स्वातंत्र्येण स्वेच्छया। ज्ञानपूर्वकं भवतीति भावः। जन्मकर्मादिरहितेश्वरस्य जन्म कर्म च भक्तदर्शनार्थं धर्मसंस्थापनाद्यर्थं च लीलयैव भवति अतः अवतारादिषु पराभक्तिश्च कर्तव्या ॥ ४७ ॥

भाषा—अवतारोंका जन्म और कर्म उनकी स्वतंत्र इच्छासे ज्ञानपूर्वक होताहै क्योंकि ईश्वरके जन्म कर्म (परतंत्रतासे) नहीं होते अर्थात् ईश्वर जन्मकर्मादिरहित है परंतु भक्तोंको दर्शन दे उनकी रक्षा करनेको तथा धर्मस्थापनादिके अर्थ अपनी स्वतंत्र इच्छा और लीलासे अवतार धारण करता हैं इस कारण ईश्वरके अवतारोंमें भी पराभक्ति करनी उचित है ॥ ४७॥

तच्च दिव्यं स्वशक्तिमात्रोद्भवात् ॥ ४८ ॥

सं०टी०—तत् च ईश्वरस्य जन्मकर्मादिकं दिव्यं कस्मात् स्वशक्तिमात्रोद्भवात् । स्वकीयशक्तिमात्रेणोद्भवत्वेन परमेश्वरस्य अवतारादिषु जन्मकर्मादिकं दिव्यं भवति न तु जीवशरीरवत् कर्मपारतंत्रेण बद्धं भूतोपादानकं च । तथा च गीतायाम् "जन्म कर्म च मे दिव्यमेवं यो वेत्ति तत्त्वतः । त्यक्त्वा देहं पुनर्जन्म नैति मामेति सोऽर्जुनः ॥" इति । दिव्यं अलौकिकम् ॥ ४८ ॥

भाषा—पूर्व सूत्रके भावकी परिपुष्टिके अर्थ महर्षि शांडिल्यजीने यह सूत्र वर्णन कियाहै कि ईश्वरके जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक होते हैं क्योंकि ईश्वरके जन्म कर्म उसकी शक्तिमात्रहीसे होते हैं मनुष्योंकी भांति कर्मके बंधनसे नहीं होते इससे ईश्वर अपने जन्म कर्मादिकका स्वयं कर्ता और ज्ञाता होता है और स्वतंत्र अपनी लीलासे अवतार धारण करताहै इसीसे उसके अवतारादिमें भी पराभक्ति करनी योग्य है । गीतामें भगवान्ने कहा है कि मेरे जन्म और कर्म दिव्य अर्थात् अलौकिक होते हैं और जो भक्त ऐसा जान मेरे दिव्यरूप अवतारादिकमें भक्ति करताहै वह मुझमें प्राप्त होताहै पुनर्जन्म नहीं पाता ॥ ४८ ॥

मुख्यं तस्य हि कारुण्यम् ॥ ४९॥

सं॰टी॰–(तत्र जन्मकर्मादिषु) तस्य परमेश्वरस्य कारुण्यं हि मुख्यम् । करुणायाः भावः कारुण्यम् । करुणा दया इति । धर्मसंस्थापनार्थं भक्तपरिरक्षणार्थं च दयापरत्वेनैव परमेश्वरोऽनेकावताररूपादिकं धारयतीति । यथा प्रह्लादस्य रक्षार्थं कारुण्येनैव नृसिंहावतारस्य प्रादुर्भावः । अत्र कारुण्यमेव मुख्यं कारणं एवमन्यत्रापि बोध्यम् ॥ ४९ ॥

भाषा–भगवान्के जन्म कर्मादिक अवतार धारण करनेमें उसकी करुणा अर्थात् दयाभावही मुख्य कारण होता है। नहीं तो उसको कोई प्रकार परतंत्रता नहीं थी । भगवत्के अवतार धर्मकी स्थापना तथा भक्तोंकी रक्षार्थ दयारूपही प्रायः होतेहैं जैसे प्रह्लादकी रक्षार्थ करुणा करके ही नृसिंहअवतारका प्रादुर्भाव हुआ इसमें केवल भक्तकी रक्षार्थ करुणाही मुख्य कारण था। इसी प्रकार अन्यत्र भी समझना चाहिये ॥ ४९ ॥

प्राणित्वान्न विभूतिषु ॥ ५० ॥

सं॰टी॰–ननु नराणां च नराधिप इत्यादिविभूतीनामपि भगवद्रूपत्वप्रतिपादनात् राजादीनां भक्तेरपि मुक्तिः

स्यात्तत्राह विभूतिषु न पराभक्तिर्मुक्तिफलाय स्यात् कुतः प्राणित्वात् । जीवत्वोपाध्यवच्छिन्नस्य राजादिकस्य पराभक्तिर्नामृतत्वाय भवतीति भावः । जीवत्वोपाधियुक्ताः राजादयः स्वयमेव कर्मबद्धा ते विभूतयोऽपि न तु मुक्तिदातारो भवंति ॥ ५० ॥

भाषा–शंका होती है कि गीतामें कहा है कि मनुष्योंमें राजा तथा वर्णोंमें ब्राह्मण और मृगादिकमें सिंह इत्यादि मेरे अंश (विभूति) है अर्थात् उनमें ऐश्वर्य विशेष है तौ क्या उनमें भी परा भक्ति करनेसे मुक्ति प्राप्त होसक्ती है इस पर कहते हैं कि, ये संसारी जीव होनेसे परमेश्वरके तुल्य परा भक्तियोग्य नहीं। यद्यपि इनसे और कोई वस्तु प्राप्त होभी सके तौ मुक्तिके दाता नहीं होसकते क्यों कि ये संसारी जीव होनेसे स्वयं कर्मबद्ध हैं और तब ये आपही कर्मके बंधनसे बंधेहैं तब विभूति होकर भी दूसरेको कर्मबंधनसे छुटा नहीं सकते इसीसे मुक्ति नहीं दे सकते॥५०॥

द्यूतराजसेवयोः प्रतिषेधात् ॥ ५१ ॥

सं०टी०–द्यूतराजसेवयोः प्रतिषेधस्तस्मात् । द्यूतं छलयतामस्मीति भगवद्गीतावाक्यतो द्यूतादिष्वपि विभूतित्वमुपपद्यते परं च भगवद्भक्तानां द्यूतराजसेवयोर्निषेध-

श्चोक्तो धर्मशास्त्रादिषु तस्मादेव सर्वा विभूतय ऐश्वर्यविशेषेऽपि मोक्षार्थिभिर्भक्तैर्न भजनीयाः न मुक्तिप्रदायकाः भवंति ॥ ५१ ॥

भाषा-यह सूत्र पूर्व सूत्रका हेतुरूप वर्णन किया है कि सब विभूतिमात्र भजनीय नहीं मानी जासकती क्योंकि गीतामें जहां विभूतियोंका वर्णन है वहां द्यूत (जूवा) भी विभूतियोंमें कहा है अर्थात् सब छल कपटोंमें जूवाभी ईश्वरकी विभूति कह दिया है और जूवा इत्यादिका भक्तोंको धर्मशास्त्रमें निषेध किया है और अयोग्यतासे राजसेवाकाभी निषेध है। यदि सब विभूतिमात्र भजनीय होसक्ती होतीं तौ द्यूतादिकका निषेध क्यों होता अस्तु। विभूति कहनेका तात्पर्य गीतामें यही समझिये कि उनमें कुछ ऐश्वर्य विशेष होनेसे वे अपने समूहमें प्रधान होते हैं कुछ मुक्तिदाता नहीं होते ॥ ५१ ॥

वासुदेवेऽपीति चेन्नाकारमात्रत्वात् ॥ ५२ ॥

सं०टी०-ननु विभूतिषु पराभक्तिनिषेधश्चेत्तदा श्रीवासुदेवेऽपि तन्निषेधः प्राप्यते इति तन्न आकारमात्रत्वात् । वस्तुतस्तु श्रीवासुदेवः कृष्णः परब्रह्म एव तस्य कृष्णाकारस्तु लीलामात्रेणैव संपद्यते अतः भुक्तिमुक्तिफलार्थिभिर्भ-

कृजनैः भगवति श्रीकृष्णे परानुरक्तिरूपा प्रेमा भक्तिः करणीया एव ॥ ५२ ॥

भाषा–शंका होती है कि विभूतियोंमें पराभक्तिका जब निषेध है और उससे मुक्ति प्राप्त नहीं होसक्ती तौ श्रीवासुदेव कृष्ण महाराजमें भी पराभक्तिका निषेध पाया जाता है परंतु ऐसा नहीं हैं क्योंकि आकारमात्र होनेसे अर्थात् वास्तवमें वासुदेव श्रीकृष्ण स्वयं परब्रह्म हैं उनका जो कृष्णाकार है सो लीलामात्र स्वतंत्र है । अन्य साधारण जीवोंकी तरह कर्मवद्ध परतंत्र नहीं है इसीसे मुक्ति और मुक्ति चाहनेवाले भक्तोंको परमरमणीय अनुरागके पूर्णाधार भगवान् श्रीकृष्णचंद्रहीमें परम अनुरागरूपा प्रेमाभक्ति कर्त्तव्य है ॥ ५२ ॥

प्रत्यभिज्ञानाच्च ॥ ५३ ॥

सं०टी०–प्रत्यभिज्ञानं प्रथमसमुत्पन्नं ज्ञानं तस्माच्चापि वासुदेवः परब्रह्म श्रूयते यथा अथर्वशिरसि नारायणोपनिषदि " ब्रह्मण्यो देवकीपुत्रो ब्रह्मण्यो मधुसूदनः । " इति ॥ ५३ ॥

भाषा–प्रत्यभिज्ञान श्रुतिस्मृतिपुराणादिसंपादित पूर्व समुत्पन्न ज्ञानसे भी भगवान् श्रीवासुदेव साक्षात् परब्रह्मही प्रतिपादित और प्रतीत होते हैं जैसे कि अथर्वणवेद ६ दशकके ९ वाक्यमें

नारायणोपनिषद्में कहाहै कि देवकीपुत्र श्रीवासुदेव ब्रह्मण्य अर्थात् स्वयं विष्णु है तथा मधुसूदन श्रीकृष्णजी स्वयं ब्रह्म (विष्णु) है इससे श्रीवासुदेवमें पराभक्ति करणीय अवश्यही है ॥ ५३ ॥

वृष्णिषु श्रैष्ठ्येन तत् ॥ ५४ ॥

सं०टी०—ननु वासुदेवः स्वयं परमेश्वरस्तदा कथं विभूतिषु तत्कीर्तनं तत्राह तत् विभूतिषुं कथनं वृष्णिषु श्रैष्ठ्येनैव स्यात् । आदित्यानामहं विष्णुरित्यादौ श्रेष्ठत्वं तेषु परमेश्वरस्यैवेति दृष्टिमात्रार्थं विभूतिकथनं तथैव वासुदेवेऽपि वृष्णिषु श्रेष्ठत्वविधायकं स्यादिति भावः ॥ ५४ ॥

भाषा—इसमें भी शंका होती है कि जब वासुदेव श्रीकृष्ण स्वयं परमेश्वर हैं तौ विभूतियोंमें उनका कथन क्यों इसपर कहते हैं कि उनका जो कथन विभूतियोंमें हुआ सो केवल वृष्णियों (यादवों) में श्रेष्ठताद्योतक लीलामात्र है जैसे वहां ही गीतामें कहा है कि आदित्योंमें मैं विष्णु हूं इत्यादि वाक्योंसे उन उनमें श्रेष्ठता परमेश्वरकी दृष्टिमात्रार्थ ही विभूति कथन समझिये इसी प्रकार वृष्णियोंमें श्रीकृष्णरूपकी श्रेष्ठताविधायक विभूतिवर्णन जानिये नहीं तौ वास्तवमें श्रीकृष्ण परमात्मा समझिये इसमें संदेह नहीं ॥५४॥

एवं प्रसिद्धेषु च ॥ ५५ ॥

सं०टी०—प्रसिद्धेषु श्रीरामचंद्रनृसिंहादिषु तथा च शंक-

रादिष्वपि एवं श्रीवासुदेववत् पराभक्तिः कार्या तेष्वपि परमेश्वरतासत्त्वात् भक्तिः कृता भुक्तिमुक्तिफलदात्री भवतीति सिद्धांतः ॥ ५५ ॥

भाषा—ऊपरके सूत्रोंमें बहुत जगह श्रीवासुदेव कृष्ण महाराजका नाम ही पराभक्तिके विषयमें आयाहै इससे अन्य अवतारोंके भक्त तथा शिवादिके भक्त विचलित नहीं हों इसी लिये अब इस सूत्रमें कहादियाहै कि जैसे श्रीवासुदेवमें पराभक्ति करनेसे भुक्ति मुक्ति सबकी प्राप्ति होती है उसी तरहसे श्रीरामचंद्रादि अन्यपूर्णावतारोंमें तथा च शिवादिक परमेश्वररूपोंमें भी पराभक्ति करनेसे भुक्ति मुक्ति सभी प्राप्त होतीहैं अर्थात् श्रीवासुदेव कृष्णकी भांति श्रीरामचंद्रादिक प्रसिद्ध अवतारोंमें भी ईश्वरबुद्धि रखकर पराभक्ति करनी उत्तम है ॥ ५५ ॥

इति द्वितीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

भक्त्या भजनोपसंहाराद्गौण्या परायै तद्धेतुत्वात् ५६ ॥

सं॰टी॰—गौण्या भक्त्या भजनोपसंहारात् परायै तद्धेतुत्वात् । गौणी गुणेनैव प्रवर्तमाना शाब्दिकी शक्तिः असुख्यवृत्त्योपपादितार्थवती शक्तिश्च इति शब्दस्तोमः । भजनगुणविशिष्टा भक्तिः गौणीभक्तिः प्रेमानुरागवती भक्तिः

परा । उपसंहारः संग्रहः समाप्तिश्च भजनस्य उपसंहारः भज-नोपसंहारः गौण्या भक्त्या भजनोपसंहारात् परायै पराभक्ति-सिद्धये तद्धेतुत्वात् गौण्या भक्त्या भजनोपसंहारः पराभ-क्तिसिद्धये हेतुर्भवतीति तात्पर्यार्थः ॥ ५६ ॥

भाषा—गौणी भक्ति मुख्य पराभक्तिसे न्यून कोटीकी भक्तिको कहते हैं । इस साधारण गौणी भक्तिहीसे भजनका संग्रह होजावे तो यही पराभक्तिका कारणरूप होजाता है अर्थात् भजन पूजन सेवा कीर्तन आदि साधारण भक्तिहीमें बहुत संग्रह होकर परा-काष्ठाको पहुँच जाते हैं तब येही उस प्रेमानुरागवती पराभक्तिके उत्पन्न करनेवाले होजाते हैं। प्रयोजन यह कि साधारण भक्तिहीमें भजन कीर्तनादिका अभ्यास बढजानेपर पराभक्ति प्राप्त हो जाती है ॥ ५६ ॥

रागार्थं प्रकीर्तिसाहचर्याच्चेतरेषाम् ॥ ५७ ॥

सं०टी०—रागार्थमेव इतरेषां प्रकीर्तिसाहचर्यात् च । इतरेषाम् पूजनप्रणामादीनां प्रकीर्तिसाहचर्यात् रागार्थमेव पराभक्त्यर्थमेवेत्यर्थः। इतरेषां यजनभजनपूजनादीनां गौण-भक्तिविषयककर्तव्यांगानां रागार्थं प्रकीर्तिसाहचर्यादेव तानि

यजनभजनादीनि पराभक्तिप्रदायकानि तस्याः कारणानि च भवंतीति भावार्थः ॥ ५७ ॥

भाषा–पूर्वोक्त सूत्रको और भी स्पष्ट करनेको महर्षि कहते हैं कि इतर अर्थात् यजन भजन पूजनादिक जो गौणी भक्तिके कर्तव्य अंग हैं ये सब ईश्वरमें अनुरागके करनेवाले और अनुराग-वृद्धिमें सहचारी हैं इसीसे ये सब भजन पूजनादिक उस पूर्णानु-रागवती पराभक्तिके कारण और उसके देनेवाले हैं और वह पूर्ण-प्रेमरूपा पराभक्ति प्राप्त होजाना ही परम पदकी प्राप्ति है ॥५७॥

अंतराले तु शेषाः स्युरुपास्यादौ च कांडत्वात् ५८॥

सं०टी०—शेषाः तु अंतराले स्युः उपास्यादौ च कांड-त्वात् । शेषाः गौणभक्तिविषयाः भजनादयस्तु अंतराले तयोर्मध्ये स्युः उपास्यादौ उपासनायोग्ये ते च कांडत्वात् ते च कांडा एव भवंतीति तस्मात् पराभक्तिर्मुख्या । गौण-भक्तिविषयाः कीर्तनभजनादयस्तु परभक्तेः कांडाः स्कंधाः एव भवंतीति भावः । तथा चोक्तं गीतायां नवमाध्याये " सततं कीर्तयंतो मां यतंतश्च दृढव्रताः ॥ नमस्यंतश्च मां भक्त्या नित्ययुक्ता उपासते ॥ " इत्यादि । तत्र नाम्नामभिधानं

कीर्तनं यतनं दृढव्रतत्वेन चैकादश्युपवासाद्यनुष्ठानं नमस्कारः नमनपूर्वककरशिरःसंयोगादिव्यापारः इत्यादि ॥ ५८ ॥

भाषा—शेष जो गौणभक्तिके विषय यजन भजन पूजन नमस्कार कीर्तनादिक ये सब अंतराल अर्थात् गौणी और पराभक्तिके मध्ये उपास्यादिकमें कांडरूप स्कंध अथवा सीढीकी भांति हीं होनेसे पराभक्ति मुख्य है। प्रयोजन यह कि गौणीभक्ति नीचेकी भूमि है और पराभक्ति ऊपरकी कोटि है वहां उपसनायोग्य कर्मोंमेंसे गाणी भक्तिके जो विषय हैं यजन भजन पूजनादिक ये सब सीढीकी भांति हैं और क्रमसे पराभक्तिकी कोटीपर पहुँचा देनेवाले हैं जैसे श्रीभगवद्गीताके नवें अध्यायमें गौणी भक्तिके विषयमें लिखा है कि जो गौणी भक्तिमें ही भक्त निरंतर भगवान्का कीर्तन करते हैं और दृढव्रत होके यतन करते हैं और भक्तिपूर्वक नमस्कार करते हैं वे नित्य इन्हीं सत्कर्मोंमें युक्त रहते रहते भगवत्के परम पद (पराभक्ति) में पहुँचजाते हैं इसमें संदेह नहीं। भगवत्के नाम और यशका उच्चारण करना कीर्तन कहलाता है आर दृढतासे एकादशी व्रतादिकका अनुष्ठान यतन कहलाता है और नमनपूर्वक हाथ जोडकर शिर नवाना इत्यादिको नमस्कार कहते हैं इसी प्रकारके गौणीभक्तिके अनेक कार्य समझिये ॥ ५८ ॥

ताभ्यः पावित्र्यमुपक्रमात् ॥ ५९ ॥

सं० टी०—ताभ्यः गौणभक्तिभ्यः पावित्र्यमेव उपक्रमः

तस्मात् । ताभ्यः भजनयजनकीर्तनादिरूपाभ्यः गौणभक्तिभ्यः पावित्र्यं अंतःकरणमालिन्यनिरसनम् एव भवति स एव उपक्रमः तस्मात् पराभक्तिरेव मुख्या इत्यर्थः । उपक्रमः उपायज्ञानपूर्वकारंभः इति शब्दस्तोमः ॥ ५९ ॥

भाषा—इस सूत्रमें गौण भाक्तिका फल कहते हैं कि इन गौणभक्तियों यजन भजन कीर्तनादिसे पवित्रता (अंतःकरणकी शुद्धि) होजाना ही उपक्रम है । उपायका ज्ञानपूर्वक समारंभ है इससे भी पराभक्ति मुख्य है । प्रयोजन यह कि गौणभक्ति भजन कीर्तनादि करते करते अंतःकरणकी शुद्धि होजातीहै तब उस पराभक्तिका समारंभ होकर साधक परम पदको प्राप्त होताहै ॥ ५९ ॥

तासु प्रधानयोगात् फलाधिक्यमेके ॥ ६० ॥

सं०टी०—तासु गौणभक्तिषु फलाधिक्यम् इति एके कस्मात् प्रधानयोगात् । प्रधानयोगात् पराभक्तेः प्रधानोपायात् तासु यजनभजनकीर्तनादिरूपगौणभक्तिषु फलाधिक्यम् इत्येके आचार्या मन्यंते । एके तु गौणभक्तेस्तदनुष्ठानस्य च कारणत्वात् पराभक्तेस्तत्कार्यत्वाच्चापि गौणभक्तिषु तदनुष्ठाने कर्तव्यत्वेन फलाधिक्यत्वेन प्राधान्यं मन्यंते । योगो युक्तिः उपायश्चेति शब्दस्तोमः ॥ ६० ॥

भाषा–कई आचार्य ऐसा मानते हैं कि गौणभक्ति यजन भजन कीर्तनादिकहीमें फल अधिक है क्योंकि यही उस पराभक्ति परमपदकी प्राप्तिका उपाय है और कई आचार्य कहते हैं कि जब गौणभक्तिसे पराभक्ति प्राप्त होतीहै तौ गौणभक्ति और उसके अनुष्ठान भजनादिकही पराभक्तिके कारण हुए तथा गौणभक्ति और उसके अनुष्ठान भजनकीर्तनादिकमें कर्तव्यता होनेसे तथा फलकी अधिकतासे गौण भक्तिहीमें प्रधानता है अर्थात् पहलेही पराभक्ति होजाना स्वाधीन नहीं है परम कठिन है और गौणभक्ति भजनादिकमें अभ्यास बढाना स्वाधीन कर्तव्य है और ऐसा करनेहीसे पराभक्ति प्राप्त होतीहै तौ इस गौणीभक्ति भजन कीर्तनादिकहीमें फल अधिक है और प्रधानता है ॥ ६० ॥

नाम्नेति जैमिनिः सम्भवात् ॥ ६१ ॥

सं०टी०–गौणी नाम्ना (एव गौणी गुणवती) इति जैमनिः कुतः संभवात् । संभवात् समावेशनयोग्यत्वरूपसंभवात् कर्तव्यतया स्वतंत्रसंभवात् कारणसंभवात् फलाधिक्यसंभवाच्च नाम्नापि गौणी भक्तिः फलाधिक्यवती इति जैमिनेः सिद्धांतः । न तु नाममात्रेणैव । संभवः समावेशनयोग्यत्वरूपे हेतौ च इति शब्दसोमः । जैमिनिस्तु कर्मणैव सकलसिद्धिप्रतिपादकः स कथं कर्तव्यकर्मरूपां

गौणभक्तिं तदनुष्ठानं च तिरस्करोतीति विस्मयः किंतु गौणीनाममात्रेणैवेति जैमिनिमतनिदर्शनं कस्यचिट्टीकाकारस्य निर्मूलकं भ्रममात्रमेव वक्ष्यमाणेषु सूत्रेष्वपि चैवमेव प्रतीयते ॥ ६१ ॥

भाषा–गौणीभक्ति नामहीसे गुणवती है और संभव होनेसे यह प्रधान है ऐसा जैमिनिका मत है । अर्थात् गौणीभक्तिहीमें और उसके अनुष्ठान भजन कीर्तनादिकमें पराभक्तिके विषय समावेश होनेकी योग्यताका रूप है और यह स्वतंत्र कर्तव्यकर्मरूप है और यही पराभक्तिका कारण है तथा इसीमें फल अधिक है इस कारण यह प्रधान है यही जैमिनिऋषिका मत है इसमें संदेह नहीं और किसी टीकाकारने ऐसा अर्थ किया है कि जैमिनिऋषि गौणभक्तिको नाममात्रही मानते हैं तौ यह उस टीकाकारका निर्मूलक भ्रममात्र है क्योंकि मीमांसाशास्त्रकार महर्षि जैमिनि कर्मसेही सकल सिद्धि मानते हैं फिर वे कैसे कर्तव्यकर्मरूप गौणभाक्तिका और उसके अनुष्ठान यजन भजन कीर्तनादि सत्कर्मोंका तिरस्कार करें यह बडे ही आश्चर्यकी बात हो । बस सिद्धांत यही है कि महार्षि जैमिनि गौणी भक्तिको प्रधान मानते हैं और ऐसा ही ठीक भी है तथा पिछले और अगले सूत्रोंसे भी ऐसाही ठीक प्रतीत होता है ॥ ६१ ॥

अत्रांगप्रयोगानां यथाकालसंभवो गृहादिवत् ॥६२॥

मं० टी०—अत्र गौणभक्तौ अंगप्रयोगानां भजनकीर्तनपूजनप्रणमनादिप्रयोगाणां यथाकालसंभवः गृहादिवत् । यथाकालसंभवः इत्यत्र अंगप्रयोगानां यथाकालं तथा संभवः स्यात् अथवा तेषां यथाकालं यथासंभवमनुष्ठानं च गृहादिवत् गृहकृत्यादाविव यथा गृहकार्यसंपादनादौ शिलास्तंभाद्याहरणं कदाचित् एकदा कदाचित् क्रमशः परं च गृहनिर्माणकार्यादौ निर्माणं तु यथाकालं क्रमशः एव। यथा पूर्वं खातं पश्चाद्भित्तिनिर्माणम् । तत्पश्चात् पातनमित्यादिवत् । अत्र केषांचित्प्रयोगानां तु कालक्रमो नास्ति केषांचिच्च कालक्रमणैव संभव इत्यर्थः । यथा कीर्तनादौ तु न कालक्रमः परंतु श्रवणमननादौ अथवा पूजार्चनादौ च पाद्यार्घ्याचमनस्नानानुलेपननैवेद्यसमर्पणादीनां गौणभक्तिप्रयोगानां तु कालक्रम एव । फलतस्तु एभिरेव गौणभक्तिप्रयोगैः पराभक्तिप्राप्तिस्ततः सिद्धिरित्यर्थः ।'मुख्यतया तु यथा यथा मनोमालिन्यनिरसनेन प्रेमवृद्धिर्भवेत्तथा तथैव

कालक्रमादिनियमबंधनेषु शैथिल्यमेवं पश्चात् परभक्तौ तेषां लय एव ॥ ६२ ॥

भाषा—इस गौण भक्तिके अंग भजन कीर्तन पूजनादिके प्रयोगोंका होना यथाकाल संभव है । गृहादिकी भांतिसे यहां पर " अगोंके प्रयोगोंका यथाकाल संभव है " इस वाक्यके दो अर्थ हैं एक तो यों है कि उन प्रयोगोंका होना यथाकाल ही संभव है अर्थात् कालक्रमके अनुसारही संभव है । दूसरे यह है कि उनका अनुष्ठान यथाकाल यथासंभव जब जब जैसे बनजावे सोही ठीक है । घर बनानेकी तरहसे जैसे घर बनानेमें दोनों भांतिके कार्य होते हैं जैसे कि घर बनानेके आदिमें कार्य शिला स्तंभादिका संग्रह चाहे एकदम करो चाहे यथाक्रम इसमें कालक्रमकी कुछ आंट नहीं है परंतु घरके निर्माणकार्यमें यथाक्रमही होनेकी आवश्यकता है पहले नीव खोदना फिर दीवार बनाना उसके पीछे फिर छत डालना इत्यादि इसी प्रकार गौण भक्तिके भी कई अंग प्रयोगोंमें कालक्रमकी आवश्यकता नहीं है जैसे नामस्मरण कीर्तनादि ये जब जब जैसे बने वैसेही ठीक हैं परंतु श्रवण मननादिकमें अथवा पूजन अर्चनादिमें पहले पाद्य फिर अर्घ्य आचमन स्नान चंदन नैवेद्यार्पण आदि गौणभक्तिके प्रयोगोंमें कालक्रमकी आवश्यकता हैही । पर मुख्य बात यह है कि जितना जितना प्रेम बढता जावेगा कालक्रमकी आवश्यकता घटती जावेगी यहांतक कि गौण भक्तिके सभी अंगोंका काल क्रमादि सब नियमोंका लय

उस पराभक्तिमें होजावेगा और इन्हीं गौणभक्तिके अनुष्ठानोंको करते करते चित्त निर्मल होकर पराभक्ति प्राप्त होजावेगी और साधक परम पदवीको प्राप्त होजावेगा इसमें संदेह नहीं ॥ ६२ ॥

ईश्वरतुष्टेरेकोऽपि बली ॥ ६३ ॥

सं०टी०—ईश्वरतुष्टेः ईश्वरतुष्टयर्थं एकोऽपि गौणभक्तेरंगप्रयोगानां भजनकीर्तनादीनां मध्ये एकोऽपि कश्चिद्बली । गौणभक्तिरंगप्रयोगानां भजनकीर्तनप्रणमननामस्मरणपूजनादीनां मध्ये एकोऽपि कश्चित् दृढाभ्यासविशेषेण कृतः ईश्वरतुष्टयर्थं बली बलवान् भवति परमेश्वरतुष्टिं जनयित्वा परभक्तये भवतीत्यर्थः ॥ ६३ ॥

भाषा—परमेश्वरकी प्रसन्नताके लिये गौणभक्तिके अंगप्रयोगोंमेंसे भजन पूजन कीर्तन प्रणाम नामस्मरण आदिकमेंसे कोई एक भी दृढ अभ्यास करके विशेष किया हुआ हो वही बलवान् होजाता है। प्रयोजन यह कि इन भजनकीर्तनादिकमेंसे कोई एक भी दृढ अभ्याससे बहुत बढजावे वह एकभी ईश्वरके प्रसन्न करनेके लिये समर्थ है अर्थात् उस एकहीसे परमेश्वर प्रसन्न होकर अपनी पराभक्ति प्रदान करदेता है जिससे साधक परमपदवीको पहुँच जाता है ॥ ६३ ॥

अबंधोऽर्पणस्य मुखम् ॥ ६४ ॥

सं० टी०—अबंध एव अर्पणस्य मुखम् । अबंधोऽत्र गौणभक्तेरंगप्रयोगेषु कालक्रमादीनां बंधनाभावः तदेव अर्पणस्य आत्मसमर्पणरूपायाः परभक्तेर्मुखं द्वारम् । प्रेमप्रादुर्भावे सर्वत्र कालक्रमादेः शैथिल्यं परिदृश्यते । अथवा अबंधः परमेश्वरे सर्वशुभाशुभकर्मणः फलस्य च विन्यासेन बंधनाभावस्तदेवार्पणस्य मुखं यथा " कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभान् । तत्सर्वं त्वयि संन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ॥ " इति । परंतु नात्र स्वातंत्र्येण कृतपापाचरणप्रसंगः ॥ ६४ ॥

भाषा—अबंधही अर्पणका मुख (द्वार) है । अबंध अर्थात् गौणभक्तिके अंगप्रयोगोंमें ही प्रेम बढकर कालक्रमादिका बंधन विशेष नहीं रहना यही आत्मसमर्पणरूपा पराभक्तिका द्वार है अर्थात् जब गौणभक्तिके प्रयोगोंमेंभी प्रेम बढकर मग्नता होने लगती है और कालक्रमके बंधन नहीं रहते तब जानो कि अब साधक पराभक्तिके द्वारपर पहुँचाहै इसके अनंतर ही पराभक्तिके स्थानमें प्रवेश करके परम पदवीको प्राप्त होगा । सब जगह संसारमें भी प्रेमका प्रादुर्भाव होनेपर कालक्रमका ठीक नहीं

रहता । दूसरा ऐसा भी अर्थ करते हैं कि परमेश्वरमें अपने सब शुभाशुभ कर्म और फल नियुक्त करनेसे बंधनसे छूटजाताहै यह अबंधही समर्पणका द्वार है जैसे श्लोकमें कहा है कि वासनासे या विना वासना मैं जो कुछ शुभ या अशुभ कर्म करताहूं सब वे परमेश्वरके अर्पण हैं और जो कुछ करता हूं परमेश्वरकी प्रेरणाहीसे करता हूं ऐसे समझता रहे परंतु जान बूझकर पाप करें और ईश्वरके शिर मढें सो कदापि ठीक नहीं । यहां गौणभक्तिविषयक पहला अर्थ विशेष प्रसंगोचित प्रतीत होता है ॥ ६४ ॥

ध्याननियमस्तु दृष्टसौकर्यात् ॥ ६५ ॥

सं०टी०—ध्यानस्य नियमस्तु दृष्टसौकर्यादेव स्यात्। ध्यानं चित्तैकाग्रतया ध्येयस्य चिंतनं तस्य नियमः दृष्टसौकर्यादेव दृष्टस्य ध्येयस्य सौकर्यं मनोज्ञत्वं यथा स्वात्तथैव ईश्वरस्यानेकरूपेषु नानाविषयत्वे चित्तविक्षेपसंभवात् तेषु यत्र यस्मिन् रूपे सौकर्यं मनोज्ञत्वं सुखसाध्यत्वं च प्रतीयते तत्रैव ध्याननियमः कर्तव्य इत्यर्थः। यथा परमसौंदर्यविशिष्टे श्रीकृष्णे सौकर्याधिक्यं श्रीरामचंद्रादावप्येवम् ॥ ६५ ॥

भाषा—इस सूत्रमें ध्यानके विषयमें कहते हैं कि ध्यानका नियम ध्येयकी सुकरता मनोज्ञताहीसे हो सक्ता है अर्थात्

ईश्वरके अनेक रूप हैं इनमें नाना प्रकारसे चित्तके विक्षेपको दूर रखकर जिस रूपमें विशेष मनोज्ञता प्रतीत हो जिस रूपके दर्शन चित्तको अधिक भावे उसी रूपको ध्यानसे चित्तमें प्रेमकी वृद्धि होकर परम अनुरागवती पराभक्ति उत्पन्न होती है जैसे परम सुंदरतायुक्त श्रीकृष्णरूपमें मनोज्ञता विशेष है ऐसे रूपके ध्यानमें अनुरागवती पराभक्तिका उदय शीघ्र होता है इसी प्रकार श्रीरामचंद्रादिकके रूपमें भी मनोज्ञता है इसमें संदेह नहीं और येही पराभक्तिके लिये सुखसाध्य हैं ॥ ६५ ॥

तद्याजिः पूजायामितरेषां नैवम् ॥ ६६ ॥

सं० टी०—'यांति मद्याजिनोऽपि माम्' इति गीतायां प्रतिपादितम्, तत्र किं तद्याजिः किं प्रसिद्धज्योतिष्टोमादिविषयकः तन्न तन्निराकरणार्थमेव सूत्रमिदम् । तद्याजिः पूजायां इतरेषां ज्योतिष्टोमादिकानां नैवम् । अत्र याजिः पूजायामेव न तु इतरेषां ज्योतिष्टोमादीनामश्वमेधादीनां च । अश्वमेधादिषु च स्वर्गादिकामवत्त्वं हिंसनादित्वं च तन्न भक्तिविषयकं अत्र तु पूजनसेवनादिविषयक एव याजिरित्यर्थः ॥ ६६ ॥

भाषा—भगवद्गीतामें लिखा है कि जो मेरा यजन यज्ञ करते हैं वे मुझको प्राप्त होते हैं तो यज्ञ क्या क्या, प्रसिद्ध ज्योति-

ष्टोमादिक ही यज्ञ यहां समझें, नहीं यहां ऐसा नहीं है क्योंकि इसीके निवारणार्थ यह सूत्र कहा है कि याजि यहां पूजाही समझिये अन्य ज्योतिष्टोम अश्वमेधादिक नहीं, क्योंकि उनमें स्वर्गादिकी कामना होती है तथा हिंसादिक होती है सो यह भक्तिविषयक नहीं है किंतु यहां तौ यजि (यज्ञ वा यजन) भगवान्‌का पूजन समझिये अथवा अवतारमूर्त्ति इत्यादिकी तथा साधु भक्तादिकी सेवा इत्यादि कार्य यज्ञ समझिये ॥ ६६ ॥

पादोदकं तु पाद्यमव्याप्तेः ॥ ६७ ॥

सं॰टी॰—पाद्यं तु पादोदकं अव्याप्तेः । पूजायां भगवन्मूर्तेः पाद्यं पादप्रक्षालनार्थं स्नानार्थं च समर्पितं यत् जलं तदेव पादोदकं भगवतः पादोदकमिति भावः कुतः अव्याप्तेः । साक्षाद्भगवतः पादोदकस्य प्राप्तेरभावात् । पादोदकस्य फलं नृसिंहपुराणे यथा “कालेन तीर्थसलिलानि पुनंति पापात् पादोदकं भगवतः प्रपुनाति सद्यः” ॥ ६७ ॥

भाषा—अब गौणभक्तिके अंतर्गत पूजाके विषयमें कहते हैं कि पाद्यहीको पादोदक समझना चाहिये अर्थात् भगवान्‌की मूर्तिके पादप्रक्षालन स्नानके जलको ही भगवान्‌का पादोदक चरणामृत समझकर लेना चाहिये क्योंकि साक्षात् भगवान्‌के चरणोंका जल तथा अवतारादिके चरणोंका जल अप्राप्य होनेसे भवत्पादोद-

कका फल नृसिंहपुराणमें लिखाहै कि तीर्थोंका जल तौ कुछ विलंबसे पापोंसे पवित्र करताहै और भगवान्का चरणामृत शीघ्रही पवित्र करदेता है इसलिये भगवन्मूर्तियों शालिग्रामादिका चरणामृतही लेना श्रेष्ठ है ॥ ६७ ॥

स्वयमर्पितं ग्राह्यमविशेषात् ॥ ६८ ॥

सं०टी०—स्वयम् अर्पितं नैवेद्यादिकं अविशेषात् ग्राह्यम् । भगवत्पूजायां स्वकीयार्पितमपि नैवेद्यादिकं अविशेषात् ग्राह्यमेव । अविशेषात् विशेषत्वं प्रधानत्वं च विहाय प्रसादवद् ग्राह्यमेवेत्यर्थः । धर्मशास्त्रे क्वचित् स्वदत्तपदार्थस्य ग्रहणदोषदर्शनं तन्नात्र एतदर्थमेव सूत्रमदः ॥ ६८ ॥

भाषा—भगवान्के पूजनमें अपने समर्पण किये हुए पुष्प नैवेद्यादिक हैं उन्हें प्रधानताके विना प्रसादरूपसे आप भी भक्तिपूर्वक ग्रहण करें । प्रयोजन यह कि जव भगवान्के अर्पण होनेसे उनमें कुछ अपना खास विशेष स्वत्व नहीं समझे और प्रसादरूपसे उसमेंसे अवश्य आपभी लेवें । जितने कुछ प्रसादार्थी उस समय हों सवके समान भावसे आपभी प्रसाद लेवे । विशेषता अपना नहीं रक्खे । वस धर्मशास्त्रमें कहीं अपनी दान करी वस्तु आप लेनेका दोष भी लिखाहै परंतु वैसा यहां नहीं समझें प्रत्युत इसी भ्रमके निवारणार्थं उपरोक्त सूत्रको समझें ॥ ६८ ॥

निमित्तगुणाव्यपेक्षणादपराधेषु व्यवस्था ॥ ६९ ॥

सं०टी०—पूजनादिगौणभक्तिप्रयोगाणा अपराधेषु निमित्तगुणाव्यपेक्षणात् व्यवस्था भवति । यथा निमित्तापराधः गुणापराधः अव्यपेक्षणापराधश्चेति त्रिविधोऽपराधयोगः। तत्र निमित्तापराधः कस्यचिदुपकरणादेरभावस्तदभावनिमित्तकोऽपराधः निमित्तापराधः। स्वभावगुणेन भ्रमादिना संजातोऽपराधः गुणापराधः । विगता अपेक्षा आकांक्षा यस्मात् तत् व्यपेक्षणम् । न व्यपेक्षणं अव्यपेक्षणं ज्ञात्वैव इच्छापूर्वकत्वेन प्रमादादिना कृतोऽपराधः अव्यपेक्षणापराधः एषु त्रिविधापराधेषु उत्तरोत्तरेण बलीयानिति व्यवस्था पूर्वोक्तयोर्द्वयोरपराधयोस्तु प्रार्थनादिभ्यः प्रायश्चित्तं भवति परंतु न च ज्ञात्वैव प्रमादादिकृतस्य अव्यपेक्षणापराधस्य प्रायश्चित्तं स महानेव दूषित इत्यर्थः ॥ ६९ ॥

भाषा—गौणभक्तिके कामों पूजनादिकमें जो अपराध अनेक प्रकारके मनुष्योंसे बनजाते हैं उनकी व्यवस्थाके विषयमें कहते हैं कि पूजनादिमें जो अनेक अपराध बनजाते हैं वे संक्षेप रूपसे तीन

प्रकारके होते हैं एक निमित्तापराध दूसरे गुणापराध तीसरे अव्यपेक्षणापराध इनमेंसे जहां उपकरणों (सामग्री आदि किसी) का अभाव हो और उस अभावके कारण त्रुटि रहजावे आर अपराध हों वहां निमित्तापराध कहलाताहै और स्वभावके गुणदोष भ्रमादिसे जो अपराध बनजावे उसे गुणापराध कहते हैं तीसरे जान बूझकर अपनी मरजीहीसे प्रमाद तथा अभिमानरूप (बेपरवाही) से जो अपराध कियाजावे वह अव्यपेक्षणापराध है। इन तीनों प्रकारके अपराधोंमें उतरोत्तर प्रबल हैं। पहलेके दो भांतिके अपराधोंकी क्षमा प्रार्थनादि प्रायश्चित्त द्वारा होसक्तीहै परंतु जान बूझकर प्रमाद अभिमानरूप होकर किये हुए अपराधोंके प्रायश्चित्त हो नहीं सक्ते यही अपराधोंकी व्यवस्था है। प्रयोजन यह कि जान बूझकर प्रमादादि करके जो ईश्वरके अपराध करते हैं वे कभी जन्मांतरमें भी पापोंसे नहीं छूटते ॥ ६९ ॥

पत्रादेर्दानन्मयथा हि वैशिष्टचम् ॥ ७० ॥

सं॰टी॰—पत्रादेः दानं हि अन्यथा वैशिष्टचम् । भगवदर्पणार्थं हि पत्रादेर्दानम् अन्यथा सुवर्णादिदानं तु वैशिष्टचमेव । भगवदर्चादिषु पत्रादेः पत्रपुष्पफलादेर्दानं मुख्यमेव अन्यथा रजतकनकादिदानं तु विशेषताद्योतकमेव। वस्तुतस्तु ईश्वराग्रे यथा पत्रं पुष्पं तथैव रजतं स्वर्णं

रत्नं च । परमेश्वरस्तु भक्तियुक्तेन पत्रपुष्पादिदानेन यथा तुष्यति न तथा भक्तिरहितेन कनकादिदानेनेत्यर्थः । तथा चोक्तं गीतायां " पत्रं पुष्पं फलं तोयं यो मे भक्त्या प्रयच्छति " इति ॥ ७० ॥

भाषा—परमेश्वरकी अर्चनादिकमें पत्र पुष्पादिका निवेदन तौ मुख्य है और इनके सिवाय और चांदी सोना तथा इनके पात्रा-भूषणादि विशेष रूपसे समझिये ईश्वरके सामने तौ जैसे पत्र पुष्पादिक वैसे ही चांदी सोना रत्नादिक हैं । ईश्वर तौ भक्तियुक्त पत्रपुष्पादिके निवेदनसे जैसे प्रसन्न होते हैं वैसे भक्तिरहित सोना चांदीसे प्रसन्न नहीं होते ॥ ७० ॥

सुकृतजत्वात्परहेतुभावाच्च क्रियासु श्रेयस्यः ७१ ॥

सं०टी०—क्रियासु (गौणभक्तयः) श्रेयस्यः कुतः सुकृतजत्वात् परहेतुभावाच्च । क्रियासु यज्ञादिसर्वकर्मसु गौणभक्तयः भगवत्पूजनकीर्तनादयः श्रेयस्यः श्रेष्ठतमाः ताः गौणभक्तयः सुकृतिभिर्जनैः सम्पादनीयाः पराभक्तेः कारणरूपाश्च अत एव सर्वासु क्रियासु श्रेयस्यः श्रेष्ठतमाः इति भावः ॥ ७१ ॥

भाषा—संसारमें जितने सत्कर्म यज्ञादि ईश्वरकी प्रसन्नताके लिये किये जाते हैं उन सबमें गौणभक्ति भगवत्पूजन भजन कीर्तन आदि ही मुख्य हैं क्योंकि ये सुकृति लोगोंहीसे होसक्ते हैं। प्रमादी अभिमानी आदि मनुष्योंसे नहीं होसक्ते तथा येही उस पराभक्तिके कारणरूप होजाते हैं अर्थात् इन्हीं भजनकीर्तनादिके करते करते ही चित्त निर्मल होकर पराभक्तिका उदय हो जाता है ॥ ७१ ॥

गौणं त्रैविध्यमितरेण स्तुत्यर्थत्वात् साहचर्यम् ॥७२॥

सं०टी०—(चतुर्धा भक्तिसंख्यायां) त्रैविध्यं गौणं इतरेण साहचर्यं तु स्तुत्यर्थत्वादेव। चतुर्धा भक्तिरुक्ता गीतायां यथा " आर्तो जिज्ञासुरर्थार्थी ज्ञानी च भरतर्षभ " इत्यत्र त्रैविध्यमेव गौणं आर्तत्वं जिज्ञासुत्वं अर्थार्थित्वं च ज्ञानित्वं तु परभक्तिविषयकं इतरेण ज्ञानित्वेन साहचर्यं स्तुत्यर्थमेव। आर्तो गजः, जिज्ञासुः शौनकः, अर्थार्थी ध्रुवः, एतेषां स्वकर्मसंपादनार्थत्वात् भजनकीर्तनादिकरणत्वात् गौणाभक्तिः परंच तत्रापि कार्यसाधनपूर्वकत्वेन परमेश्वरप्राप्तिः। ज्ञानी शुकः तस्य च सर्वलालसाराहित्येन परमेश्वरे प्रेमरूपा पराभक्तिरिति ॥ ७२ ॥

भाषा—गीतामें जैसे चार प्रकारके भक्त कहे हैं कि आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी और ज्ञानी इनमें आर्तकी भक्ति और जिज्ञासुकी भक्ति तथा अर्थार्थीकी भक्ति ये तीनों गौण भक्ति हैं और ज्ञानीकी भक्ति पराभक्ति है । गीतामें जो चारोंका साथही वर्णन है वह भक्तिमात्रकी स्तुतिके लिये समझिये । आर्त भक्त वह है जो किसी महाक्लेशसे व्यथित हो और उसकी निवृत्तिके लिये परमेश्वरकी भक्ति करे जैसे गजराज और जिज्ञासु वह है जो परमेश्वरके ज्ञानके अर्थ भक्ति करे जैसे शौनक, तथा अर्थार्थी वह है जो किसी बडी कामनाकी सिद्धिके लिये परमेश्वरकी भक्ति करे जैसे ध्रुव । ये सब गौण भक्तिके विषय हैं पर इनमें भी कार्यसिद्धिपूर्वक अंतमें परमेश्वरप्राप्ति होती है, और ज्ञानी भक्त जैसे शुकदेव जो समस्त लालसाओंसे रहित होकर परमेश्वरकी प्रेमरूपा परा भक्तिमें मग्न रहते हैं और जीवन्मुक्ति अवस्थारूप परमपदको प्राप्त हुए हैं ॥ ७२ ॥

बहिरंतस्थमुभयमवेष्टिसववत् ॥ ७३ ॥

सं॰टी॰—उभयं बहिरंतरस्थं अवेष्टिसववत् । उभयं गौणभक्तिविषयकं भजनकीर्तनादिकं परभक्तिविषयकं प्रेम च बहिरंतरस्थं उभयथा भवितुमर्हतीत्यर्थः । अवेष्टिसववत् अवेष्टिसवं यज्ञस्योपकरणम् तत् किंचित्तया बहिःस्थं किंचित्तया अंतरस्थं तद्वत् ॥ ७३ ॥

भाषा-उभय अर्थात् गौण भक्तिके विषय भजन कीर्तनादिक और पराभक्तिका विषय प्रेम ये दोनों ही अंतर्व्यापी तथा बहिर्व्यापी होसक्तेहैं जैसे गौणभक्तिके विषय कीर्तनादिक हैं सो बहिर्व्यापी हैं। परंतु यादि कीर्तनादिकहीमें प्रेमका उदय होजावे तौ यही अंतर्व्यापी पराभक्तिरूप होजाताहै। और प्रेम पराभक्तिका विषय है और अंतरव्यापी हैं। यदि देश कालादिसे इसमें न्यूनाधिक्यता स्फुटास्फुटता हो तौ यह प्रेमभी बाहिर्व्यापी हो गौणभक्तिरूपक होताहै जैसे यज्ञके अवेष्टिसव (कनात इत्यादि) भीतरको भी रहते और बाहरको भी होते हैं उसी प्रकार ये भी समझें ॥ ७३ ॥

स्मृतिकीर्त्योः कथादेश्चार्त्तौ प्रायश्चित्तभावात् ॥७४

सं०टी०—आर्तौ कथादेः स्मृतिकीर्त्योः प्रायश्चित्तभावात्। आर्तौ परमपीडितस्य भक्तस्य पीडायां तन्निवारणे चार्तभक्तौ कथादेः स्मृतिकीर्त्योः भगवत्कथादीनां स्मरणस्य कीर्तनस्य च प्रायश्चित्तभावात् स्मरणादिकं च श्रेष्ठतरम्। वस्तुतस्तु आर्तस्य आर्तभक्तौ भगवतः कथादीनां स्मरणं कीर्तनं च पापपुंजक्षयार्थं सकलार्तिनिवारणार्थं च प्रायश्चित्तवद्भवतीत्यर्थः। तदुक्तं विष्णुपुराणे "यन्नामकीर्तनं

भक्त्या विलापनमनुत्तमम् । मैत्रेयाशेषपापानां धातूनामिव पावकः ॥ " इति ॥ ७४ ॥

भाषा—आर्ति परमपीडायुक्त भक्तोंकी आर्तभक्तिमें भगवान्की कथादिकका स्मरण करना या कीर्तन करना ही उनके पापोंके नाश करनेको तथा समस्त पीडा निवारण करनेको प्रायश्चित्तरूप होजाताहै और उन आर्त भक्तोंके सारे क्लेश दूर होजाते हैं। इससे पीडित भक्तोंको उसके नामादिका स्मरण कीर्तनादि करना ही परम कल्याणकारी होगा इसमें संदेह नहीं जैसे विष्णुपुराणमें कहा है कि भक्तिपूर्वक उस परमेश्वरका नाम स्मरण करना। हे मैत्रेय ! समस्त पापों और दुःखोंका नाश करनेवाला होताहै जैसे अग्नि समस्त धातुओंके दोषको दूर कर देती है ॥ ७४ ॥

भूयसामननुष्ठितिरिति चेदाप्रयाणमुपसंहारान्महत्स्वपि ॥ ७५ ॥

सं॰टी॰—भक्तौ भूयसां कर्मणां अनुष्ठितिः इति चेन्न महत्सु अपि आप्रयाणं उपसंहारात् । न अनुष्ठितिः अननुष्ठितिः भक्तौ सत्यां भूयसां कर्मणां अनुष्ठितिः अनुष्ठानं चेत् इति न महत्सु पुरुषेषु अपि आप्रयाणं मरणपर्यंतं उपसंहारात् स्मरणस्योपसंहारात् किंच महत्सु अपि मरण-

पर्यंतं नामस्मरणस्योपसंहृतिर्भवतीत्यर्थः। उपसंहारः संग्रहः समाप्तिश्चेति शब्दस्तोमः। उक्तं च विष्णुपुराणे अं० २अ० ६ " तस्मादहर्निशं विष्णुं संस्मरन् पुरुषो मुने। न याति नरकं शुद्धः संक्षीणाखिलकल्मषः॥ " इति ॥ ७५ ॥

भाषा–भक्ति होनेपर भक्तजनको बहुतसे आडंबरी कर्मोंको करनेकी आवश्यकता रहती हो सो ऐसा नहीं है क्योंकि महापुरुषोंको तो मरणपर्यंत भगवान्के नामस्मरणका ही संग्रह रहता है अर्थात् नामस्मरणका ही ध्यान रहता है वही समस्त पापोंसे उद्धार कर देता है इसमें संदेह नहीं जैसे विष्णुपुराणमें लिखा है कि हे मुने ! जो पुरुष दिन रात भगवान्का स्मरण करते हैं वे समस्त पापोंसे शुद्ध हो जाते हैं और नरकमें नहीं जाते ॥ ७५ ॥

लघ्वपि भक्ताधिकारे महत्क्षेपकमपरसर्वहानात्॥७६॥

सं०टी०–भक्ताधिकारे लघु अपि स्मरणादि महत्क्षेपकं भवति कुतः अपरसर्वहानात्। भक्ताधिकारे भक्तौ सत्यां लघु अपि सकृत्स्मरणकीर्तनादि महत्क्षेपकं महतामपि पापानां क्षेपकं नाशकं भवति कुतः अपरसर्वहानात् अपरसर्वकामत्यागात्। अपरसर्वकामनात्यागसंभवत्वे भक्ता-

धिकारे लघु अपि स्मरणकीर्तनादिकं क्षणिकं संन्यासात्मकं समाधिरूपकं च भवति तस्मात् एव महत्पापक्षय इत्यर्थः। तथा चोक्तं "महापातकयुक्तोऽपि ध्यायन् निमिषमच्युतम्। पुनस्तपस्वी भवति पंक्तिपावनपावनः ॥" इति ॥ ७६ ॥

भाषा–भक्तिका अधिकारी होनेपर थोडा भी स्मरण कीर्तनादिक बडे पापोंको नाश कर देता है । क्योंकि भक्तिपूर्वक जब थोडा भी भगवत्स्मरण किया जाता है उस समय उस भक्तके मनसे समस्त कामनाओंका परित्याग हो जाता है जिससे भक्तको क्षणिक संन्यास तथा समाधिका भाव प्राप्त होजाता है जिसके होनेसे समस्त ही पाप नष्ट होते हैं जैसे शास्त्रमें भी लिखा है कि महापातकी होकर भी कोई भक्तिपूर्वक क्षणभर परमेश्वरका ध्यान करता है तौ उसके सब पाप दूर होकर वह पक्तियोंको पवित्र करनेवाला तपस्वी रूप होजाता है इसमें संदेह नहीं ॥७६॥

तत्स्थानत्वादनन्यधर्मः खले वालीवत् ॥ ७७ ॥

सं॰टी॰–भक्तः अनन्यधर्मो भवति कस्मात् तत्स्थानत्वात् किंवत् खले वालीवत् । भक्तः अनन्यधर्मः परमेश्वरभक्तस्य परमेश्वरचिंतनादन्यः कश्चिदपि धर्मो न भवतीत्यर्थः । कुतः तत्स्थानत्वात् तदेव स्थानं यस्य तद्भावात्

यथा खले वाली तुषादिराहित्येन शुद्धान्तरूपं भवति । तथैव भक्तोऽपि अन्यधर्मताराहित्येन अनन्यधर्मो भवति । अनन्यधर्मतयैव सकलपापक्षयः यथा गीतायां "सर्वधर्मान् परित्यज्य मामेकं शरणं व्रज । अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ॥" इति ॥ ७७ ॥

भाषा–भक्तगण सदैव परमेश्वरहीको अपना आधार समझ उसीके आधीन रहनेसे अनन्यधर्म होते हैं अर्थात् सिवाय परमेश्वर-चिंतनके भक्तोंका और कोई धर्म नहीं होताहै जैसे ओखलीमें पडनेसे वाली धान्यकी बाल तुषादिकसे रहित होकर शुद्ध धान्य बनजाताहै वैसेही भक्त अन्यधर्मतासे रहित होकर अनन्यधर्म होजाते हैं और समस्त पापोंसे छूट जाते हैं जैसे कि भगवान्ने गीतामें कहा है कि हे अर्जुन ! और सब धर्मोंको छोडकर तू मेरी शरणमें आ मैं तुझको सब पापोंसे रहित करदूंगा सोच मत कर ॥ ७७ ॥

आनिंद्ययोन्याधिक्रियते पारंपर्यात् सामान्यवत् ७८॥

सं०टी०–भक्तौ सामान्यवत् आनिंद्ययोनि अधिक्रियते कुतः पारंपर्यात् आनिंद्ययोनि चांडालयोनिपर्यंतमपि सामान्यवत् समानभावेन भक्तिविषये अधिक्रियते कस्मात् पारंपर्यात् पूर्वकालमारभ्य अद्यपर्यंतव्यवहारात् भक्तौ न

कस्याप्यनाधिकार इत्यर्थः । यथा ब्राह्मणस्य तथैव चांडाल-स्यापि परमेश्वराचिंतनेऽधिकारः । नैवात्रविधिनिषेधात्मकश्चा-डंबरः सर्वदेशेषु सर्वजातिषु सर्वधर्मसु यथा तथा वा संसारदुःखनिवृत्त्यर्थं परमेश्वरभक्तौ तु सर्वेषामेवाधिकारः । गुहादयो बहवश्चांडालास्तथा च गजगृध्रादयस्तिर्यग्योनिजा अपि भक्तिप्रभावेन परमपदवीं प्राप्ता इति ॥ ७८ ॥

भाषा—चांडालयोनितक सबको भक्ति करनेका समान भावसे ही अधिकार है क्योंकि परंपरासे यही व्यवहार है जैसा ब्राह्मणको भगवान्‌के भजन कीर्तन चिंतनका अधिकार है वैसेही स्त्री शूद्र चांडालतक सभीको अधिकार है । भक्ति करनेमें विधिनिषेधरूप कोई आडंबर भी नहीं है । सब देशोंमें सब जातियोंमें सब धर्मोंमें जैसे तैसे संसारके दुःखकी निवृत्तिके लिये सभीमें भक्त हुए और होसक्तेहैं जैसे गुहादिक अनेक चांडाल तथा गज गृध्रादि पशुप-क्षियोंमें भगवद्भक्तिके प्रभावसे अनेक जीव परम पदवीको प्राप्त हुए हैं इसमें संदेह नहीं ॥ ७८ ॥

अतो ह्यविपक्वभावानामपि तल्लोके ॥ ७९ ॥

सं०टी०—अतः हि अविपक्वभावानां अपि तल्लोके गति-रिति शेषेणान्वयः । अतः तत्स्थानत्वात् अनन्यधर्मत्वाच्च

अविपक्वभावानां परभक्तिपदं अप्राप्तानां अपि ह्यति निश्चयेन तल्लोके भगवल्लोके गतिर्भवतीत्यर्थः । कदाचित् भक्तः पर-भक्तिपदं अप्राप्य गौणभक्तावेव स्थगति म्रियते वा तस्यापि तत्स्थानत्वात् अनन्यधर्मत्वादेव भगवल्लोकप्राप्तिरिति भावः ॥ ७९ ॥

भाषा-भक्त भगवान्‌को ही अपना आधार समझते हैं तथा अनन्यधर्म होते हैं इसीसे यदि परभक्तिके पद्को नहीं पहुँच सके और गौणभक्तिहीमें स्थगित होजावे या मरजावे तौ भी उनको ईश्वरके लोकहीकी प्राप्ति होगी इसमें संदेह नहीं. कर्मकांडमें यज्ञादि किसी कार्यकी ठीक समाप्ति नहीं हो तौ साधकको कुछभी सिद्धि नहीं होती किंतु उलटा पापका भय होताहै परंतु भक्तिमें जितना हो जैसे हो उतनी ही श्रेष्ठता है । भक्तिमार्गही ऐसा उत्तम है जिसमें कोई भय नहीं सदा उपकारिता ही है ॥ ७९ ॥

क्रमैकगत्युपपत्तेस्तु ॥ ८० ॥

सं०टी०-क्रमैकगत्युपपत्तेः तु (अपि अविपक्वभावानां तल्लोकप्राप्तिः) क्रमेण तु एकगतेरेवोपपत्तिः स्यात् । यथा यज्ञेन स्वर्गप्राप्तिः ततश्चापि उन्नतिं कृत्वा जन्मजन्मांतरेण यथाक्रमं ब्रह्मलोकपर्यंतं जीवस्य गतिः पुनरावृत्तिश्च तथैव

भक्तावविपक्कानां तल्लोकप्राप्तिः तत्र भगवल्लोके परमभक्तिसाधनः सौकर्यादल्पायासेन परभक्तिप्राप्तिः ततश्च भगवत्सामीप्यभावं सायज्यभावं चावाप्य न पुनरावृत्तिः । तथा चोक्तं गीतायां अ० ८ "आब्रह्मभुवनाल्लोकाः पुनरावर्तिनोऽर्जुन । मामुपेत्य तु कौंतेय न पुनर्जन्म विद्यते ॥" ॥ ८० ॥

भाषा–क्रमपूर्वक सत्कर्म करनेसे एक एक गतिकी ही उपपत्ति होती है इससे भक्तिकी अपक्कदशामें भगवल्लोककी प्राप्ति हो जाती है जैसे यज्ञ करनेसे स्वर्ग प्राप्त होताहै और फिर यथाक्रम उन्नति करते २ जन्मजन्मांतरोंमें ब्रह्मलोकपर्यंत जीवकी गति और पुनरावृत्ति होती रहती है वैसेही भक्तिकी अपक्क अवस्थामें भगवान्के लोककी प्राप्ति होती है और वहां भगवल्लोकमें पराभक्तिके साधनकी सरलता होनेसे अनायास ही उन्हें पराभक्ति प्राप्त होजाती है जिससे भगवत्का सायुज्य या सामीप्य भाव इत्यादि परमपद प्राप्त होजाते हैं और संसारके आवागमनसे छूट जाते हैं जैसा गीतामें भगवान्ने कहा है कि हे अर्जुन ! ब्रह्मलोकपर्यंतसे जीवोंका पुनरागमन होता है परंतु मेरे भक्त मुझको प्राप्त होकर दुःखरूप संसारमें जन्म नहीं लेते ॥ ८० ॥

उत्क्रांतिः स्मृतिवाक्यशेषाच्च ॥ ८१ ॥

सं०टी०–(परभक्तौ) उत्क्रांतिश्च कुतः स्मृतिवाक्य

शेषात् । स्मृतयश्चात्र भगवद्गीताद्याः तेषामेव वाक्यशेषैः परभक्तावेव उत्क्रांतिः स्मर्यते । उत्क्रांतिः क्रममुल्लंघ्य ऊर्ध्वगमनमित्यर्थः । तथा चोक्तं गीतायां अ० १२ " ये तु सर्वाणि कर्माणि मयि संन्यस्य मत्पराः । अनन्येनैव योगेन मां ध्यायंत उपासते ॥ तेषामहं समुद्धर्ता मृत्युसंसार-सागरात् । भवामि न चिरात्पार्थ मय्यावेशितचेतसाम् ॥ " इति । अनन्येन योगेन अनन्यभक्तियोगेन मां ध्यायंते अहं तेषां मृत्युसंसारसागरात् अचिरात् समुद्धर्ता भवामि । नतु तेषामुद्धरे क्रमनियमः ॥ ८१ ॥

भाषा–पराभक्ति होजाने पर एकदम उत्क्रांति होजाती है क्रमकी कोई जरूरत नहीं होती अर्थात् पराभक्तिमें एकदम ईश्वरसाक्षात्कार होनेसे उसे सहसाही परम पदवी प्राप्त होजाती है क्योंकि स्मृति गीतादिकमें ऐसे अनेक वचन हैं जैसे गीता अ० १२ में कहा है कि जो मेरे भक्त सब कर्मोंको मेरे अर्पण कर अनन्यरूप पराभक्ति योगसे मेरा ध्यान और उपासना करते हैं और मुझमें चित्त लगाते हैं मैं उन भक्तोंका इस जन्म-मृत्युरूप संसारसागरसे शीघ्र ही उद्धार कर देताहूं इसमें किसी भी क्रमकी जरूरत नहीं ॥ ८१ ॥

महापातकिनां त्वार्तौ ॥ ८२ ॥

सं०टी०—महापातकिनां भक्तिस्तु आर्तभक्तौ गणनीया । ये च महापातकिनः ते च आर्तवद्भक्तिं कृत्वा स्वकीयोद्धारकरणे समर्था भवंतीति भावः । यदि चेत् महापातकिनामपि आर्तभक्तौ च पराभक्तेरुदयस्तदैव सर्वपापक्षय इत्यभिप्रायः ॥ ८२ ॥

भाषा—महापातकियोंकी भक्तिको आर्तभाक्ति समझना चाहिये प्रयोजन यह हैं कि महापातकी मनुष्यभी आर्तकेसी भक्ति करके अपने उद्धार करनेमें समर्थ होसक्ते हैं अर्थात् यदि महापातकी मनुष्योंको भी आर्तभाक्ति करते २ पराभक्तिका उदय होजावे तौ फिर उसके सभी पापोंका नाश हो जावेगा इसमें संदेह नहीं । अभिप्राय यह कि पराभक्तिका उदय होजाने पर कैसे ही पातकी क्यों न हो उनके सभी पाप दूर होजाते हैं इससे पराभक्तिही दुर्लभ और मुख्य है । चार प्रकारके भक्त पहले कहही चुके हैं कि आर्त जिज्ञासु अर्थार्थी तथा ज्ञानी ये चार प्रकारके भक्त हैं ॥ ८२ ॥

सैकांतभावो गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात् ॥ ८३ ॥

सं०टी०—सा पराभक्तिः एकांतभाव एव कुतः गीतार्थप्रत्यभिज्ञानात् । एकांतभावः एकः अंतो भावो यत्र स एकांतः

इति शब्दस्तोमः । तस्य भावः एकांतभावः एकनिश्चयेन चिंतनमित्यर्थः । सा एव पराभक्तिः कुतः गीतार्थेन प्रत्यभिज्ञानश्रवणात् गीतार्थेन चैवेति प्रत्यभिज्ञा श्रूयते इति ॥ ८३ ॥

भाषा—वह पराभक्ति एकांतता ही समझिये । एकांतभावका अर्थ यहां यह है कि एक परमेश्वरही पर जिसमें निश्चयता रहे वही एकांतभाव है वही पराभक्ति है गीता आदिमें इसी प्रकारके वचन पाये जाते हैं ॥ ८३ ॥

परां कृत्वैव सर्वेषां तथा ह्याह ॥ ८४ ॥

सं० टी०—सर्वेषां उपदेशानां कर्मणां च तात्पर्यं परां कृत्वैव भवति तथाहि आह श्रीकृष्णः गीतायां अ० १८ श्लो० ६८ "य इदं परमं गुह्यं मद्भक्तेष्वभिधास्यति । भक्तिं मयि परां कृत्वा मामेवैष्यत्यसंशयम् ॥" इत्यादि ॥ ८४ ॥

भाषा—इस सूत्रमें पराभक्तिकी परम मुख्यता वर्णन करते हैं कि सब उपदेशों तथा सब कर्मोंका तात्पर्य मुख्य पराभक्तिके साधन करनेके अर्थ ही हैं और इसी प्रकार श्रीभगवान्‌ने श्रीगीताजीमें कहाहै कि मेरे भक्तोंमेंसे जो इस परम गुह्य आशयका धारण करते हैं और मुझमें पराभक्ति करते हैं वे निःसंदेह मुझको प्राप्त हो जाते है इसमें संदेह नहीं ॥ ८४ ॥

इति द्वितीयोऽध्यायः समाप्तः ॥ २ ॥

तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

भजनीयेनाद्वितीयमिदं कृत्स्नस्य तत्स्वरूपत्वात् ॥ ८५ ॥

सं०टी०—भक्तिनिरूपणादनंतरं भजनीयस्य परमेश्वरस्य निरूपणं तथा च ईश्वरस्य सत्यत्वात् तद्रूपस्य जगतोऽपि सत्यत्वनिरूपणं चात्र इदं सर्वं जगत् भजनीयेन अद्वितीयं कुतः कृत्स्नस्य सर्वस्य तत्स्वरूपत्वात् । इदं सर्वं जडचैतन्यात्मकं जगत् भजनीयेन परमेश्वरेण अद्वितीयम् । सर्वमीश्वरमयमित्यर्थः । ईश्वरः सच्चिदानंदमयः तस्य सदंशेन जडप्रपंचः चिदंशेन जीवात्मकः चैतन्यप्रपंचः आनंदमयस्तु साक्षात् भगवानेव तदंशे जीवेऽपि यथा यथा तस्यानुग्रहेण भक्तेरुदयस्तथा तथैवानंदस्याविर्भाव इति तथा च ईश्वरांशत्वेन इदं जगदपि नित्यं सत्यं च अनेन मिथ्यावादिनः परास्ताः ॥ ८५ ॥

भाषा—भक्तिका विस्तारपूर्वक निरूपण करनेके अनंतर अब महर्षि सूत्रकार उस भजनीय परमेश्वरका निरूपण करते हैं तथा ईश्वरके सत्य होनेसे और जगत् ईश्वरका स्वरूप होनेसे इसकी

भी नित्यता और सत्यता दिखाते हैं कि यह सब जगत् भक्तोंको अपने भजनीय परमेश्वरसे दूसरा पृथक् नहीं है क्योंकि समस्त चराचर संसार परमेश्वरहीका रूप है परमेश्वर सच्चिदानंदमय है हीं तब उसके सत् अंशसे सब जडपदार्थ उत्पन्न होते हैं और चित्अंशसे जीवात्मक चैतन्य पदार्थ उत्पन्न होते हैं तथा आनंदमय साक्षात् भगवान् हीं है परंच उसके अंश जीवोंमें भी जितना जितना उसके अनुग्रहसे भक्तिका उदय होता है उतना उतना जीवमें भी आनंदका प्रादुर्भाव होजाता है तथा जगत् भी ईश्वरका अंश होनेसे नित्य और सत्य है, कभी नाशमान नहीं होता, कभी विस्तृत वृक्षरूप प्रकट होता है, कभी बीजरूप सूक्ष्म होकर ईश्वरमें मिलासा रहता है, परंतु किसी न किसी रूपमें सदा रहता है इससे जगत्को असत्य मिथ्या बतानेवाले मिथ्यावादियोंके मतका खंडन किया है ॥ ८९ ॥

तच्छक्तिर्माया जडसामान्यात् ॥ ८६ ॥

सं॰टी॰—माया तच्छक्तिः ईश्वरस्य शक्तिः कुतः जडसामान्यात् । माया प्रकृतिः ईश्वरस्यैव शक्तिरेव नतु परमेश्वरद्वितीया स्वातंत्र्येण काचित् शक्तिः कुतः जडसामान्यात् जडतुल्यत्वात् तथाचोक्तं गीतायां "दैवी ह्येषा गुणमयी मम माया दुरत्यया । मामेव ये प्रपद्यंते मायामेतां तरंति ते ॥ १ ॥ मयाध्यक्षेण प्रकृतिः सूयते सचराचरम् । हेतुनानेन

कौंतेय जगद्विपरिवर्तते ॥ २ ॥ मिथ्यात्वस्यानुषक्तेश्च तन्मिथ्यात्वं न सांप्रतम् । तत्वज्ञानेन बाध्यत्वं मिथ्यात्वमिति चेन्नहि ॥ ३ ॥ " इति ॥ ८६ ॥

भाषा–मायावादिगण संसारको मायारूप और मायाहीसे उत्पन्न बताते हैं इसपर कहते हैं कि ईश्वरकी शक्तिही माया है कोई स्वतंत्र दूसरा पदार्थ नहीं है क्योंकि मायाको जडत्व होनेसे उसमें कुछभी क्रियाकी शक्ति तथा च ज्ञानशक्ति नहीं है तो फिर उसे संसारके रचनेकी सामर्थ्य भी नहीं होसक्ती । माया परमेश्वरहीकी शक्ति है इसपर गीतामें भगवान्ने कहाहै कि मेरी दैवी माया है सो दुरत्यय है और त्रिगुणमयी है जो मेरे भक्त मुझको प्राप्त होते हैं वे इस मायासे तिर जाते हैं प्रकृति माया मेरी अध्यक्षतामें (मेरे आधीन होकर) सदा इस चराचर संसारको उत्पन्न करती रहतीहै इसी हेतुसे हे अर्जुन ! यह संसार परिवर्तनशील है । मायाको अनुषक्तिरूप होनेसे मिथ्यात्व प्रतीत होताहै परंतु वास्तवमें इसे मिथ्यात्व नहीं है। तत्वज्ञानसे बाध्यबाधकता होसक्तीहै । मिथ्यात्व कहा सो कदापि नहीं होसक्ता जैसे मायावी सत्य है तो उसकी माया भी सत्य ही है । ईश्वर सत्य है तब उसकी इच्छा और शक्ति भी अवश्य ही सत्य है इसमें संदेह नहीं, अस्तु । यह संसार केवल परमेश्वरकी शक्तिरूप मायाका ही विकाशरूप है प्रयोजन यह कि परमेश्वरकी चित्शक्तिके विना केवल माया नित्य और सत्य होकर भी कुछ नहीं करसक्ती । (इससे केवल मायावादियोंके मतका निराकरण होताहै) ॥ ८६ ॥

व्यापकत्वाद्व्याप्यानाम् ॥ ८७ ॥

सं०टी०—व्याप्यानां व्यापकत्वात् । व्यापकः चिदंशेन परमेश्वरः व्याप्यस्तु सदंशेन प्रकृतिरूपेण जडसमुदायः तयोः संमेलनमेव संसारः तत्र सदंशे चिद्व्याप्तिः चिदंशे चानंदव्याप्तिरेवेति । व्याप्यव्यापकसंयोगेनैव संसृतिस्तत्र तु व्यापकस्य सत्यत्वात् व्याप्यादीनामपि सत्यता भवितुमर्हति । अथवा कृत्स्नं जगत् जडचैतन्यात्मकं व्याप्यव्यापकत्वभावेन परमेश्वररूपकं तदा व्यापकत्वात् व्याप्यानामपि सत्यता समुत्पन्ना ॥ ८७ ॥

भाषा—जड चैतन्य रूप जगत्में व्याप्यव्यापकभाव होनेसे जब व्यापक ईश्वर सत्य है तौ व्याप्य प्रकृति भी सत्य है ही क्योंकि ईश्वरके सदंशमें चिदंश व्यापक है और चित्तमें आनंद व्याप्त है और इन्हींके व्याप्यव्यापकभावसे संसारकी सृष्टि है तब एक सत्य है तौ दूसरा भी सत्य ही है ॥ ८७ ॥

न प्राणिबुद्धिभ्योऽसंभवात् ॥ ८८ ॥

सं०टी०—प्राणिबुद्धिभ्यः (जगदुद्भवः) न कुतः असंभवात् । सृष्ट्युद्भवः प्राणिनां मनुष्यादीनां बुद्धिभ्यः नैव

कुतः प्राणिबुद्धिभ्यः असंभवात् । एषां पृथ्वीसूर्यचंद्रादिकानां रचना प्राणिबुद्धिभ्यः असंभवा इत्यर्थः । अतो नास्तिकाः परास्ताः ॥ ८८ ॥

भाषा—अब नास्तिकों अनीश्वरवादियोंके मतका निराकरण करते हैं कि, यह संसार मनुष्यादिकी बुद्धिसे नहीं बना है और न बनसक्ता है किंतु यह उस परमात्मा और उसकी शक्ति प्रकृतिहीसे बना है इसमें संदेह नहीं क्योंकि पृथ्वी सूर्य चंद्रादिक लोकोंकी रचना मनुष्यादि जीवोंकी बुद्धिसे होना असंभव है इसीसे परमेश्वरको सब संसारका स्रष्टा समझकर उसकी परमभक्तिमें रत रहना चाहिये ॥ ८८ ॥

निर्मायोच्चावचं श्रुतीश्च निर्मिमीते पितृवत् ॥ ८९ ॥

सं॰टी॰—उच्चावचं निर्माय च श्रुतीश्च निर्मिमीते पितृवत् ईश्वरः इति शेषेणान्वयः । ईश्वर उच्चावचं उत्कृष्टापकृष्टात्मकं संसारं निर्माय विरच्य पुनः श्रुतीः निर्मिमीते वेदांश्च रचयामास पितृवत् यथा पिता संतानमुत्पाद्य तच्छिक्षणार्थं यतते तद्वत् वेदाः परमेश्वरीयज्ञानमया अपौरुषेया संसारस्य शिक्षणार्थकाः एव । अनेन सूत्रेण वेदानामपौरुषेयत्वमुक्तम् ॥ ८९ ॥

भाषा—वेदके मतको समर्थन करनेके अर्थ सूत्रकार कहते हैं कि परमेश्वरने जब नाना प्रकारके संसार और मनुष्यादि जीवोंको उत्पन्न किया तब ईश्वरहीने उनके ज्ञानप्राप्ति और शिक्षाके लिये वेदोंकी रचना करी पिताके समान अर्थात् जैसे पिता संतान उत्पन्न करके उनकी शिक्षाका भी प्रबंध करताहै वैसे ही परमेश्वरनेभी मनुष्योंके ज्ञान और शिक्षाके अर्थ वेदोंका आविर्भाव कियाहै वेद ईश्वरीयज्ञानरूप ह संसारकी शिक्षाके लिये ईश्वरहीने रचे हैं किसी मनुष्यके बनाये नहीं है इस सूत्रसे वेदोंकी महिमा वर्णन करी है ॥८९॥

मिश्रोपदेशान्नेति चेन्न स्वल्पत्वात् ॥ ९० ॥

सं० टी०—मिश्रोपदेशात् भक्तैर्वेदाः न मान्या चेत् तन्न कुतः स्वल्पत्वात् वेदेषु मिश्रोपदेशाः कर्मकांडोपाख्यान-ज्ञानकांडरूपमिश्रितोपदेशाः अतः भक्तैः वेदाः न मान्या इति न कस्मात् स्वल्पत्वात् वेदेषु एते विषयाः समुचित-रूपेणापि स्वल्पा एव आदौ मनुष्याणां क्रियासहनार्थं चित्त-शुद्धयर्थं च वेदेषु कर्मकांडोऽपि समुचितः उदाहरणरूपकत्वेन उपाख्यानान्यपि समुचितानि ज्ञानकांडस्तु ज्ञानप्राप्त्यर्थमेव स्वल्पा अपि ते विषयाश्चोपसंहारे सर्वे भक्तिसहायका भवं-तीति भावः । अत एव वेदा मान्याः ॥ ९० ॥

भाषा–शंका होती है कि वेदोंमें सब प्रकारके उपदेश हैं कर्मकांड उपाख्यान ज्ञानकांड इत्यादि तो फिर भक्तोंको वेद मान्य नहीं होने चाहिये इस पर कहते हैं कि वेदोंमें मिश्रित सब उपदेश होनेसे भक्तोंको वेद अमान्य हो ऐसा नहीं है क्योंकि वेदोंमें ये विषय उचित रीतिसे होने पर भी बहुत कम हैं । प्रथम मनुष्योंको क्रियाकी सहनता (विधिनिषेधरूपसे काम करनेकी सहनशक्ति) हो तथा बुद्धिकी शुद्धता इत्यादि हो इत्यादिके लिये कर्मकांड भी उचित ही है और उदाहरणरूपसे उपाख्यान भी ठीक ही हैं और ज्ञानकांड तो ज्ञानप्राप्तिके लिये है ही ये सब थोडे थोडे होकर भी उपसंहारमें सबही भक्तिके सहायक हैं इससे भक्तोंको वेद अवश्य मान्य है इसमें संदेह नहीं ॥ १० ॥

फलमस्माद्बादरायणो दृष्टत्वात् ॥ ११ ॥

सं०टी०–फल अस्मात् इति बादरायणः कुतः दृष्टत्वात् । फलं कर्मफलं अस्मात् परमेश्वरात् एव प्राप्यते, नतु कर्मणि स्वत एव फलदातृत्वं इति बादरायणस्य श्रीव्यासस्यापि वचनं कुतः दृष्टत्वात् संसारेऽपि तथैव दर्शनात् । यथा राजतोषरोषादयः राजा कृतापराधेऽपि क्षंतुं समर्थः लघुसेवया च महत्सन्मानप्रदोऽपि भवतीत्यादिवत् । अनेन कर्मवादिनः परास्ताः ॥ ११ ॥

भाषा-अब उन कर्मवादियोंका निराकरण करते हैं जो कहा करते हैं कि कर्मोंहीसे सब कुछ होता है ईश्वरकी कोई आवश्यकता नहीं इसपर कहते हैं कि कर्मोंके फल ईश्वरद्वारा ही प्राप्त होते हैं कर्म जड हैं इनमें स्वयं फल देनेकी शक्ति नहीं है ऐसा श्रीव्यासजीने वेदांतसूत्रोंमें भी कहा है और देखनेमें भी ऐसाही आता है जैसे राजाकी कृपा और कोप। राजा कभी भारी अपराध करने पर भी थोडा दंड देता है अथवा कृपा करके क्षमा भी कर सक्ता है कभी थोडेसे अपराधसे बहुत भारी दंड देता है कभी थोडेसी भलाई पर बहुत प्रसन्न होकर महत्संमान दे देता है इत्यादि। अथवा यों समझो कि जिस किसीकी सेवा या अपराध किया जावेगा वही उससे प्रसन्न या अप्रसन्न होकर फल देता है उसके विना स्वयं सेवा या अपराध कुछभी फल नहीं दे सक्ते इससे यही सिद्ध होता है कि सब कर्मोंका फल देनेवाला कर्मसे पृथक् कोई और चैतन्य शक्तिमान् है और वह सर्वशक्तिमान् परमेश्वर ही है। इससे प्रयोजन यही है कि अच्छे बुरे कर्मोंका अच्छा या बुरा फल जरूर प्राप्त होताहै परंतु उस कर्मके फलका देनेवाला कोई दूसरा ही हुआ करताहै । कर्म अपना फल आप स्वयं कदापि किसीको नहीं देसक्ते इसीसे सदैव सत्कर्म करते रहना और उसके श्रेष्ठ फलकी प्रार्थना या वांछा परमेश्वरसे करते रहना । हां यह और बात है कि चाहे सत्कर्म करके भी उसके फलकी वांछा मत रक्खो परंतु वह जगन्नियंता परमेश्वर सत्कर्मोंके श्रेष्ठ फल चाहे भुक्तिरूपमें चाहे मुक्तिरूपमें अवश्यही देंगे इसमें

संदेह नहीं और यदि अज्ञानसे या विना इच्छाके कोई असत्क-र्मभी बनजावें तौ क्षमाकी प्रार्थना भी परमेश्वरसे करो वह अपनी कृपा और तुम्हारी भक्तिके अनुसार तुम्हारे असत्कर्मोंको क्षमा भी करदेंगे इसमें संदेह नहीं ॥ ९१ ॥

व्युत्क्रमादप्ययस्तथा दृष्टम् ॥ ९२ ॥

सं०टी०—(लयवर्णनम्) अयः व्युत्क्रमात् अपि भवति तथा दृष्टम् । अयः नाशः लयः स च प्रलयः व्युत्क्रमादेव भवति । क्रमाद्विपरीतः व्युत्क्रमः विपरीतक्रमः इत्यर्थः । अनुलोमक्रमेण सृष्टिर्भवति विलोमक्रमेण लयः। अनुलोमक्रमो यथा एतस्मादाकाशः संभूतः, आकाशा-द्वायुः , वायोरग्निः, अग्नेरापः, अद्भ्यः पृथिवी, पृथिवीभ्यः अन्नमित्यादि अनेन क्रमेण संसारोत्पत्तिः । विलोमक्रमो यथा अन्नं पृथिव्यां, पृथिवी जले, जलमग्नौ, अग्निर्वायौ, वायुराकाशे, आकाशस्तस्मिन् परब्रह्मणि लीयते इति व्युत्क्रमेण लयः प्रलय इत्यर्थः । तथैव दृष्टं तथा चोक्तम् "प्रलयो व्याप्यतत्वानां व्यापकेषूत्क्रमान्मतः । व्यापिकायां मृदि व्याप्य घटादिलयदर्शनात् ॥ " इति ॥ ९२ ॥

भाषा—अब महर्षि लय (प्रलय) का वर्णन करते हैं कि संसारकी सृष्टि अनुलोम क्रमसे हुआ करती है और विनाश उसके विपरीत विलोम क्रमसे होता है । अनुलोम क्रम यह है कि उस परब्रह्म परमेश्वरसे आकाश और आकाशसे वायु उत्पन्न होता है, वायुसे अग्नि और अग्निसे जल, जलसे पृथिवी और पृथिवीसे अन्न उत्पन्न होकर मनुष्यादि जीवोंकी सृष्टि होती है, और इसके विपरीत विलोम क्रम इस प्रकार है कि अन्न पृथिवीमें, पृथिवी जलमें, जल अग्निमें, अग्नि वायुमें; वायु आकाशमें और आकाश उस परब्रह्ममें लय होजाता है तब संसारका प्रलय होजाता है । ऐसेही प्रत्यक्ष भी दीखता है कि जब व्याप्य तत्व अपने व्यापकमें लय होजाता है तबही उसका प्रलय (नाश) समझा जाता है जैसे व्याप्य घट अपने व्यापक मिट्टी अर्थात् पृथिवीमें मिल जाता है तब घटका प्रलय (नाश) होगया ऐसा समझा जाता है । इन दोनों प्रकारके क्रमके नियंता परब्रह्म परमेश्वरही हैं इसमें संदेह नहीं इस कारण उसी परमेश्वरकी भक्तिमें सदैव मनुष्यको रत होना चाहिये ॥ ९२ ॥

इति तृतीयाध्यायस्य प्रथमाह्निकम् ।

तदैक्यं नानात्वैकत्वमुपाधियोगहानादादित्यवत् ॥ ९३ ॥

सं०टी०—सर्वं खल्विदं ब्रह्म नेह नानास्ति किंचन इत्यादि परमेश्वरस्यैकत्वं निरूपयति तदैक्यं एव नानात्वै-

कत्वं उपाधियोगहानात् आदित्यवत् तदैक्यं तस्य पर-ब्रह्मणः ऐक्यं एकत्वमेव तस्य च नानात्वं एकत्वं च उपा-धियोगहानादेव प्रतीयते उपाधियोगात् नानात्वं उपाधिहा-नाच्चैकत्वं आदित्यवत् यथा आदित्यस्य सूर्यस्य जलपात्रदर्पणाद्युपाधियोगेन नानाप्रतिबिंबतया नानात्वं दृश्यते तथा च जलपात्राद्युपाधिनाशे च तत्प्रतिबिंबाभावे तस्य एकत्वमेव अतः परभक्त्या जीवत्वोपाधिबुद्धिहाना-देकत्वमेवेति दिक् ॥ ९३ ॥

भाषा—छांदोग्य उपनिषद्में कहाहै कि यह सब जगत् ब्रह्म-मय है अनेकत्व कुछभी नहीं है इत्यादि परमेश्वरकी एकता दृढ करनेको सूत्रकार कहते हैं कि उस परब्रह्मकी एकता ही है उसमें जो अनेकता और एकता है यह उपाधिके योग और अयोगही-से होतीहै जैसे अनेक जलपात्र दर्पणादिके योगसे सूर्यके अनेक प्रतिबिंब दीखते हैं और उन जलपात्रादिका अयोग होजानेसे एकही सूर्य दिखाई देताहै कहीं कोई प्रतिबिंब नहीं दीखते इसी भांति जीवत्वादि उपाधिके योगसे ईश्वरमें अनेकत्व और जीव-त्वादि उपाधिके मिटनेसे एकत्वही होजाता है अस्तु पराभक्तिसे जब जीवत्व उपाधि मिटजातीहै तब वह एक ब्रह्ममय होजाताहै ॥ ९३ ॥

पृथगिति चेन्न परेणासंबंधात् प्रकाशानाम् ॥ ९४ ॥

सं०टी०—जलपात्रस्थप्रतिबिंबेभ्यः सूर्यः पृथक् अत्यंतभिन्न इति चेन्न प्रकाशानां परेण असंबंधात्। प्रतिबिंबेभ्यः सूर्यस्यात्यंतपार्थक्ये सति प्रकाशानां प्रतिबिंबानां परेण सूर्येण संबंधाभाव एव तत्तु नैव तथैव जीवोऽपि नैव पृथगित्यभिप्रायः। जीवस्यापि पार्थक्ये मन्यमाने सति तस्य परमेश्वरेण असंबंध एव तदपि नैवेति सिद्धांतः ॥ ९४ ॥

भाषा—यदि जलपात्रस्थ प्रतिबिंबोंको सूर्यसे बिलकुल पृथक् पदार्थही मानें तौ ऐसा होही नहीं सक्ता क्योंकि ऐसा माननेमें प्रतिबिंबप्रकाशोंका साक्षात् सूर्यसे कुछ भी संबंध नहीं होना चाहिये सो ऐसा नहीं है कि प्रतिबिंबका सूर्यसे कुछभी संबंध न हो इसी प्रकार जीवभी ईश्वरसे बिलकुल भिन्न पृथक् पदार्थ नहीं है यहांभी ऐसा मानलें तो इसका ईश्वरसे कुछभी संबंध नहीं हो सो ऐसा भी नहीं है अर्थात् अभक्तिरूप उपाधिसहित जीव पृथक् प्रतीत होता है और जब अभक्तिरूप जीवकी उपाधि मिट जावे और पराभक्तिमें पहुँचकर तन्मय होजावे तब एक ईश्वरूप ही होजाता है इसमें संदेह नहीं ऐसाही विशिष्टाद्वैतवादी भक्तोंका मत है और सिद्धांत है ॥ ९४ ॥

न विकारिणस्तु कारणविकारात् ॥ ९५ ॥

सं०टी०—आत्मानो विकारिणस्तु न कुतः कारणविकारात् । यदि आत्मानो विकारिणः स्युः तदा तु तत्कारणे परमेश्वरेऽपि विकारसद्भावः स्यात् । ईश्वरो विकाररहितस्तदा तस्य कार्येऽपि विकाराभाव एव आत्मनि प्रतीयमानाः सुखाद्युपलब्धिप्रमुखाः विकाराः तेऽपि नैवात्मनि ते च विकारा बुद्धावेव तदुक्तं गीतायां " रागेच्छासुखदुःखादि बुद्धौ सत्यां न चात्मनि । सुषुप्तौ नास्ति तन्नाशे तस्माद्बुद्धेर्नचात्मनः ॥ " इति वस्तुतस्तु आत्मानः ईश्वरेण पृथगपि न विकारिणोऽपि नैव किंतु परभक्त्यभावे चाज्ञानेनैव विकारिणः प्रतीयंते इति भावः ॥ ९५ ॥

भाषा-(अब कुछ आत्माका निरूपण करते हैं कि) आत्मा भी विकारवान् नहीं है क्योंकि ऐसा होनेसे उसके कारण ईश्वर परब्रह्ममें भी विकार आजावेगा और परब्रह्म सदा निर्विकार है ही और नव कारणरूप परब्रह्म निर्विकार है तौ उसके तज्जन्य कार्यरूप आत्मा भी विकाररहित ही है और आत्मामें जो सुखदुःखादिककी उपलब्धि आदिक विकार प्रतीत होते हैं सो आत्मामें नहीं हैं, बुद्धिके विकार हैं। जैसे गीतामें कहा है कि राग इच्छा सुख

दुःख ये बुद्धिके होनेहीमें होते हैं आत्मामें नहीं क्योंकि सुषुप्तिमें ये नहीं होते इससे ये बुद्धिहीके विकार हैं आत्माके नहीं किंतु पराभक्तिके अभावसे अज्ञानसे आत्मामें विकार प्रतीत हुआ करते हैं वास्तवमें नहीं हैं ॥ ९५ ॥

अनन्यभक्त्या तद्बुद्धिर्बुद्धिलयादत्यन्तम् ॥ ९६ ॥

सं०टी०—कथं जीवस्य परभक्तिभावे परमेश्वरप्राप्तिरित्याह अनन्यभक्त्या अनन्यया परभक्त्या तद्बुद्धिः परमेश्वरविषयिणी बुद्धिर्भवति बुद्धिलयात्। तस्या बुद्धेरपि परमेश्वरे लयात् अत्यंतं अतिशयेन अंतं भवति परमेश्वरप्राप्तिरित्यर्थः। तथा चोक्तं गीतायां "पुरुषः स परः पार्थ भक्त्या लभ्यस्त्वनन्यया" इति ॥ ९६ ॥

भाषा—कैसे जीव पराभक्तिकरके परमेश्वरको प्राप्त होताहै इस पर सूत्रकार कहते हैं कि, परमेश्वरकी अनन्यरूप पराभक्ति होनेसे परमेश्वरविषायिणी बुद्धि होजातीहै अर्थात् परमेश्वरही की तरफ बुद्धि लगजाती है और फिर वह बुद्धि भी परमेश्वरमें परमेश्वरके प्रेममें लय होजाती है तब इस जीवकी सबसे अंतकी दशा (जीवन्मुक्ति दशा) होजाती है अर्थात् परमेश्वरकी प्राप्ति हो जाती है श्रीभगवान्ने गीतामें भी कहाहै कि हे अर्जुन ! वह परम पुरुष परमेश्वर अनन्य भक्तिहीसे प्राप्त होताहै ॥ ९६ ॥

आयुश्चिरमितरेषां तु हानिरनास्पदत्वात् ॥ ९७ ॥

सं० टी०—इतरेषां आयुः चिरं अनास्पदत्वात् तु हानि (एव) इतरेषां जीवानां आयुः चिरम् कर्मफलभोगपर्यंतं तुशब्दात् भक्तानां अनास्पदत्वात् कर्मफलभोगपदत्वाभावात् आयुषः कर्मफलभोगरूपजीवत्वस्य हानिरेव । वस्तुतस्तु परभक्तानां संचितप्रारब्धकर्मफलस्य भोगाभावत्वे सहसैव कर्मफलभोगस्य हानिस्ततः परमपदप्राप्तिरित्यर्थः । आस्पदं स्थानं पदं इति शब्दस्तोमः ॥ ९७ ॥

भाषा—बहुत ऐसा कहते हैं कि प्रारब्ध कर्म फलका भोग हुए विना कभी जीवका छुटकारा नहीं हो सक्ता इस शंकाके ही निवारणार्थ सूत्रकार कहते हैं कि अन्य जीवोंकी आयु अर्थात् जीवत्व चिरस्थायी कर्मफलके भोगपर्यंत रहताही है परंतु परभक्तोंके कर्मफल भोगरूप जीवत्व यह ही नहीं रहनेसे उनका कर्मफलभोगरूप जीवत्व नहीं रहता अर्थात् परम भक्तोंके संचित और प्रारब्ध कर्मोंके भोगरूप पाप सहसा दूर होजाते हैं और सहसा ही परमपदकी प्राप्ति होजाती है यही भगवद्भक्तिकी अपार महिमा है ॥ ९७ ॥

संसृतिरेषामभक्तिः स्यान्नाज्ञानात्कारणासिद्धेः ९८ ॥

सं॰टी॰—एषां संसृतिः अभक्तिः स्यात् अज्ञानात् न कुतः कारणासिद्धेः । एषा इतरजीवानां संसृतिः संसारः तत्र च जन्ममरणाद्यनेकक्लेशयुते चक्रे भ्रमणं च अभक्तिरेव । अभक्तितस्तु जीवा संसृतिचक्रे भ्रमंति अज्ञानादेव न संसृतिसंभवः कस्मात् कारणासिद्धेः अत्र च कारणस्य असिद्धिः भवतीत्यर्थः । भक्तिं विना केवलेन ज्ञानेन मुक्तिरपि न स्यात्तदा केवलेनाज्ञानेन संसृतिरपि नैवेति भावः ॥ ९८ ॥

भाषा—अब सूत्रकार बंधन और मोक्षका ठीक कारण समझानेके अर्थ कहते हैं कि इतर जीवोंकी संसृति अर्थात् संसारके जन्म मरणादिक अनेक क्लेशयुक्त चक्रमें फँसे रहनेका कारण एक मात्र अभक्ति ही है अर्थात् विना भक्तिहीके जीव संसारके दुःखबंधनमें फँसा रहता है यह अभक्तिही बंधनका कारण है अज्ञान ठकि बंधनका कारण नहीं है क्योंकि ईश्वरकी भक्तिके विना केवल ज्ञानमात्रसे मुक्ति नहीं हो सक्ती तब केवल अज्ञान ही बंधनका भी कारण नहीं होसक्ता जैसे हरेक काम विना साधन किये केवल उसकी जानकारी मात्रसे सिद्ध नहीं होसक्ते । हां जानकारी साधनमें सहायक जरूर होती है इसी प्रकार ज्ञान

उसकी जानकारी है और भक्ति भजन रूप साधन है । अब ज़रा केवल ज्ञानी लोग विचारें कि विना साधनाके जानकारी मात्र-से कोईभी सिद्धि नहीं फिर ईश्वरप्राप्ति विना भक्तिके केवल ज्ञानमात्रसे कैसे होसक्ती है अस्तु । भक्तिही ईश्वरप्राप्ति तथा मोक्षको परम कारण है इसमें संदेह नहीं ॥ ९८ ॥

त्रीण्येषां नेत्राणि शब्दलिंगाक्षभेदाद्रुद्रवत् ॥९९॥

सं०टी०—एषां (जीवानां) शब्दलिंगाक्षभेदात् त्रीणि नेत्राणि रुद्रवत् । एषां जीवानां ज्ञेयज्ञानाय शब्दलिं-गाक्षभेदात् त्रीणि नेत्राणि प्रभाजनकानि साधनानि भवंति । शब्दलिंगाक्षभेदात् इति शब्दः । आप्तोक्तिः श्रुतिस्मृतिपुरा-णेतिहासादिषु सत्यवचनानि, लिंगश्चानुमानसाधनहेतुः अनुमानं च व्याप्यस्य प्रत्यक्षेण व्यापकनिश्चयः यथा धूमो व्याप्यः तस्य व्यापकः वह्निः व्याप्यव्यापकयोः समवाय-संबंधात् धूमदर्शने वह्नेर्निश्चयः । यत्र यत्र धूमस्तत्र तत्र वह्निरिति साहचर्यनियमात्, अक्षं प्रत्यक्षं अक्षाणि घ्राणर-सनचक्षुत्वक्श्रोत्राणि पंच ज्ञानेंद्रियाणि तैरेव साक्षात्तया ज्ञानं जीवानां मनुष्यादीनां ज्ञेयस्य ज्ञानसाधनार्थं एतानि

त्रीण्येव प्रमाणानि संतीत्यर्थः। एभिरेव सर्वं प्रमीयते, इत्थंच यथा शंकरस्य सूर्यचंद्राग्निरूपाणि त्रीणि नेत्राणि संति तथैव ज्ञेयज्ञानार्थं जीवानां च त्रीणि नेत्राण्येव ॥ ९९ ॥

भाषा—अब ज्ञेयके ज्ञानार्थं तथा सत्यासत्यके विवेचनार्थ सूत्रकार कहते हैं कि, ज्ञेय पदार्थके ठीक जाननेके लिये मनुष्यादि जीवोंके शब्द लिंग और अक्षके भेदसे तीन नेत्र हैं अर्थात् मनुष्यादि इन तीन प्रमाणोंद्वाराही ज्ञेय (ईश्वर) के जाननेको समुद्यत होसक्ताहै। वे तीन नेत्र प्रमाणरूप ये हैं प्रथम शब्दप्रमाण जैसे वेदवाक्य तथा स्मृतिपुरणादिके सत्य वचन तथा आप्त महात्माओंके वचन, दूसरे लिंग (अनुमान प्रमाण) जिसमें व्याप्यके प्रत्यक्ष होनेपर व्यापकका निश्चय होजाताहै जैसे धूम अग्निका व्याप्य है अग्नि व्यापक, व्याप्य व्यापकका समवाय संबंध होनेसे जहां जहां धूम है वहां अग्नि जरूर है इस साहचर्य नियमसे धूमको देखकर अग्निका निश्चय अवश्य होजाताहै यह अनुमान प्रमाण है, तीसरा अक्ष अर्थात् प्रत्यक्ष प्रमाण जहां साक्षात् ज्ञेयपदार्थका ज्ञान अपने नेत्रादि ज्ञानेंद्रियोंद्वारा होजावे। नासिका जिह्वा चक्षु त्वचा और कर्ण ये पांच ज्ञानेंद्रिय हैं । इनसे साक्षात् ज्ञान होनाही प्रत्यक्ष प्रमाण होताहै बस ज्ञेयके ज्ञानसाधनार्थ ये तीनहीं प्रमाण हैं, इन्हींसे सब दृष्ट अदृष्ट पदार्थोंका निश्चय होताहै जैसे श्रीमहादेवजीके सूर्य चंद्र अग्नि रूप तीन नेत्र हैं उसी प्रकार जीवोंके भी ये तीन नेत्र ही (ज्ञानके साधन रूप) हैं। सूर्य चंद्र अग्नि इनमें भी प्रकाश

होनेसे सब पदार्थोंके दीखनेकी शक्ति है इसी प्रकार जीवोंको भी शब्द अनुमान प्रत्यक्ष तीन प्रमाणोंद्वारा सब निश्चय करनेकी शक्ति हैं अस्तु । मनुष्योंको इन्हीं प्रमाणोंसे ईश्वरका निश्चय करके उसकी परभक्तिमें रत रहना चाहिये ॥ ९९ ॥

आविस्तिरोभावा विकाराः स्युः क्रियाफलसं- योगात् ॥ १०० ॥

इति श्रीशांडिल्यप्रणीतसूत्रीयभक्तिमीमांसादर्शने
तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

सं०टी०–आविस्तिरोभावा विकाराः क्रियाफलसंयोगात् स्युः । जीवानां आविर्भावतिरोभावादयो विकाराः क्रियाफलसंयोगादेव स्युः । क्रिया कर्मचेष्टा तस्याः फलं तयोः क्रियाफलयोः संयोगः क्रियाफलसंयोगः तस्मात् जीवानां मनुष्यादीनां आविर्भावतिरोभावादयो विकाराः सृष्टिनाशादयः ते च क्रियाफलसंयोगादेव भवंति । वस्तुतस्तु परमेश्वरः आत्मा च निर्विकार एव सुतरां परभक्तौ क्रियाफलसंयोगपरिहानात् विकाराभावे मुक्तिरेवेति शम् ॥ १०० ॥

भाषा–उत्पत्ति और नाशरूप विकार क्रियाफलके संयोगहीसे होते हैं अर्थात् जीवोंकी उत्पत्ति और उनका नाश (जन्ममरण)

क्रिया (कर्मों) और फलके योगसे ही होता है। वास्तवमें ईश्वर और आत्मा निर्विकार ही है। कर्मफलके बंधनमें पडकर जीव जन्ममरणादि अनेक विकारोंमें फँसा रहता है और कर्मफलका बंधनरूप विकार छूटजानेसे एक ईश्वररूप ही होजाता है सुतरां पराभक्तिसे कर्मफलके योगका नाश होजाने पर जीव विकाररहित होकर मुक्तिरूप परमपदको प्राप्त होजाता है अस्तु। भक्तिही जीवके उद्धारमें सर्वश्रेष्ठ है इसमें संदेह नहीं इति ॥ १०० ॥

इति श्रीमुरलीधरशर्मकृतायां भक्तिमीमांसादर्शनसंस्कृत-व्याख्यायां भाषाटीकायां च तृतीयोऽध्यायः ॥ ३ ॥

अंतिम निवेदन ।

मुरलीविनय ।

भाषा दोहा ।

गिरिधर मुरलीधर प्रभो, धरणीधर भवनाथ ।
भवते पकर निकारि दो, मुरलीधरको हाथ ॥ १ ॥
इक कर मुरली धर अधर, इक राधा गल बांह ।
ऐसे मुरलीधर करो, मुरलीधर निर्वाह ॥ २ ॥
दक्षिण कर मुरली धरहि, राजत राधा वाम ।
सो मुरलीधर सारिये, मुरलीधरके काम ॥ ३ ॥
मुरली धरकर अधरपर, धर मुरलीपर हाथ ।
मुरलीधर प्रभु कीजिये, मुरलीधर हि सनाथ ॥ ४ ॥
यमुनातट गिरिवर निकट, राधायुत गोपाल ।
मुरली धरकर कीजिये, मुरलीधर प्रतिपाल ॥ ५ ॥
दहने गौ वायें प्रिया, रुचिर कदमकी छाँह ।
मुरलीधरछबि नित बसो, मुरलीधर मनमाह ॥ ६ ॥
उलट पलट कर युगल पट, लिपटत व्रजतरुडार ।
मुरलीधर दृग हों सफल, कब यह रूप निहार ॥ ७ ॥
मुरलीधर प्रभु का करो, धर मुरलीधर नाम ।
नाम धरो तौ कर धरो, करो सारथक काम ॥ ८ ॥

मुरलीधर नखपर धरचो, गिरिवरभार अपार।
अब कर मुरली धरनते, क्यों लागत प्रभु भार ॥ ९ ॥
मुरली पुरली वंशभव, जड बहु छिद्रसपोल।
मुरलीधर प्रभु कर गहो, पावहुँ पद बहु मोल ॥ १० ॥
मुरलीको संसारमें, मुरलीधर आधार।
ताते मुरलीधर विना, काते करूं पुकार ॥ ११ ॥
इक दिन मुरली धरन विन, परत न पल प्रभु चैन।
अब क्यों मुरली धरनकी, सुध न लेत दिन रैन ॥ १२ ॥
क्या करमें क्या फेटमें, क्या प्रभुके मुख लाग।
रह समीप श्रीकृष्णके, दो मुरली बड भाग ॥ १३ ॥
मुरलीधर हरि नामते, हुए अमित जड पार।
निज कर गहि क्यों ना करो, मुरलीका उद्धार ॥ १४ ॥
मुरली धर कर नित रहत, मुरलीधर महराज।
मुरलीसुध न विसारिये, कर पकरेकी लाज ॥ १५ ॥
मुरली पर अति कर कृपा, राखत प्रभु नित पास।
या विध विरह विचारकर, भव उतरनकी आस ॥ १६ ॥
मुरलीमें कछु गुन जु है, यहै कृष्णकी फूक।
विना कृष्णकी फूकके, कूड वंशको टूक ॥ १७ ॥
मुरलीके सब गुन अगुन, मुरलीधर आधीन।
मुरली धर करके विना, मुरली जड जड हीन ॥ १८ ॥

तुम मुरलीधर मुरलिमें, खूब बन्यो संबंध ।
यह संबंध निवाहु प्रभु, काटो भव दुख फंध ॥ १९ ॥
मुरलीकी सुध छाँडिके, जो न रखो प्रभु हाथ ।
तो मुरलीधर आपको, कौन कहेगो नाथ ॥ २० ॥
मुरलीधर मुरली परे, परकर परसे पाय ।
पापरसेवरसे प्रभो, पुनि कर परसे जाय ॥ २१ ॥
मुरलीधर निज कर करत, मुरलीकेर सुधार ।
सुध मुरलीकी या समै, क्यों दी नाथ विसार ॥ २२ ॥
हे मुरलीधर होत हैं, जडते सौ अपराध ।
जड मुरलीके क्षमहु सब, करके कृपा अगाध ॥ २३ ॥
सब सुख लागव जौनके, जगमें हों बडभाग ।
मुरली बड भागीन क्यों, मुरलीधर मुख लाग ॥ २४ ॥
जो मुरलीमें होहि कछु, किसी प्रकार विकार ।
तो मुरलीधर आपही, लीजै उसे सुधार ॥ २५ ॥
मुरलीधर सुध लेहिंगे, मुरलीकेर जरूर ।
मुरलीको इस बातकी, है आशा भरपूर ॥ २६ ॥
मुरली अरजी करत है, मुरलीधरकी ओड ।
क्या मुरलीधर सो गये, मुरलीकी सुध छोड ॥ २७ ॥
मुरली पुरली होत है, श्रीमुरलीधर आज ।
आखिर प्रभु पछताइहो, निज मुरलीके काज ॥ २८ ॥

पहुँचत सकल जहानमें, मुरलीकी झलकार।
मुरलीधरके कानतक, पहुँचत क्यों न पुकार॥ २९॥
मुरलीके अवगुननते, मुरलीधरकी लाज।
ताते दोष मिलाइये, मुरलीके व्रजराज॥ ३०॥
मुरलीकी धुनयुत करत, राधा हरि कलगान।
करो कृपा यह धुन परे, मुरलीधरके कान॥ ३१॥
मुरलीधर निजकर सदा, तजो न मुरली नेक।
यह मुरलीधर नामकी, श्रीमुरलीधर नेक॥ ३२॥
मुरलीधरके कर विना, मुरली कदर न होय।
क्या मुरली धर शिर तले, मुरलीधर गये सोय॥ ३३॥
छाँड वंशकी जगह जड, मुरली नाम धराय।
मुरलीधर हित लाग किसि, तौभि न करो सहाय॥ ३४॥

श्रीराधाकृष्णविहारके भक्तिमय भजन।

भजन १ देश।

श्यामा हरि जागेउ सरस प्रभात ॥ टेक ॥
श्यामको पीतांबर राधा तन राधाकी पट हरिगात ।
पलटि पहिरेसे सकल ललितादिक निरख २ मुसकात ॥ १ ॥
हरि उर प्रिया उरोज उदरपर माला खचित लखात ।
मनउ प्रेमवश दृढ आलिंगन कर पौढेउ सब रात ॥ २ ॥
मुख धो वस्त्र पहिन सिंहासन बैठे अधिक सुहात ।
नमन करन जन सकल नगरके कोई आवत कोइ जात ॥ ३ ॥

भजन २।

राधा हरि दरपन वदन निहारे ॥ टेक ॥
दाहानि ओर विराजत मोहन गल गलवय्यां डारे ।
दरपन माँहि दोउ मुख लख लख रीझत नंददुलारे ॥ १ ॥
आपन चरन अलक श्याम मुख लख लली वचन उचारे ।
यह काभयो लाल देखो जनु उग्यो चंद घनकारे ॥ २ ॥
देखो लाल अधर रस चूसत रदयुत भये हमारे ।
अरुण कपोलनपर अति चुंबत अंकित दशन तुम्हारे ॥ ३ ॥
हँस हँस देत उलहना राधा सुनहो प्रानपियारे ।
हम सुंदरि नागरि गँवार तुम हम गोरी तुम कारे ॥ ४ ॥

भजन ३।

राधा हरि जमनामें न्हान पधारे ॥ टेक ॥
राधा वसन महीन भीजकर लिपट गये तन सारे।
प्यारी ओर निहार हँसत हरि तन लख परत उघारे ॥ १ ॥
जलमें लसत ललीमुख मुखपर बिंदी और सितारे।
मनु मंदाकिनी उग्यो चंद्रमा अरु चंदा बिच तारे ॥ २ ॥
हलत अलक राधाकी झाईं जलमें मनु अहि कारे।
अहिभय विकल प्रानप्यारीने पकरे नंददुलारे ॥ ३ ॥
हरि लइ पलट बांधदियो जूरा मिटेउ प्रिया भयभारे।
मुदित भई हरि आलिंगन कर तन मन तपत निवारे ॥ ४ ॥

भजन ४।

राधा हरि जीमत एकहि थाल ॥ टेक ॥
एक चंदन चौकीपर बैठे राधा मदनगुपाल।
ललिता चतुर परोसत भोजन व्यंजन विविध विशाल ॥ १ ॥
चाखत सकल पदारथ दंपति कर षटरसको ख्याल।
जो जो रुचिर अधिक व्यंजन तिहि ललिहि खिलावत लाल॥२॥
सब रस चख वृषभानुललीसे हँस बोले नंदलाल।
जो रस अमृत अधर मधु तुमरे ता सम ना कोई माल ॥ ३॥
भोजन जीम पानसे दोइकी हुई दशनावलि लाल।
पुष्पराग नीलम पेटीमें जनु लालनकी माल ॥ ४ ॥

भजन ५ ।

राधा हरि आसन एक विराजे ॥ टेक ॥
राधा रूप गौर अतिसुंदर श्याम श्यामद्युति राजे ।
युगलकिशोर वदनछबि लख लख कोटि काम रति लाजे॥१॥
झांई परत परस्पर दोइ तन अति अद्भुत छबि छाजे ।
पद्मराज मनु लसत श्यामद्युति नीलम लसत पियाजे ॥ २ ॥
भ्रुकुटि कमान पलक शर यौवन योधा दोइ रुख गाजे ।
मदनयुद्ध जय करत आज निशि दोइ दिश होत अवाजे ॥३॥
श्यामा श्याम बैठ सन्मुख दोई निरखत रूप समाजे ।
मोहित होत दोइ एकपर एक देख रूप छबि ताजे ॥ ४ ॥
एला पान इतर पूगीफल अमित थालभर साजे ।
मुरलीधर वृषभानुलली की हँस हँस करत तवाजे ॥ ५ ॥

भजन ६ ।

राधा हरि झूलत एक हिंडोले ॥ टेक ॥
दक्षिण श्याम वाम श्रीराधा ललिता देत है झोले ।
सखिया गावत प्रेमप्रीतियुत राग मलार हिंडोले ॥ १ ॥
हरिशिरं मोर मुकुट बांकी छबि राधा निज लट खोले ।
अलक पवन वश हलत मोरभय जनु अहि कं रत डोले ॥ २ ॥
लसत पीतपट सुभगश्यामतन राधा नील निचोले ।
घनमाहिं बिजली मनु बिजलीमें सोहत घन अनमोले ॥ ३ ॥

झुलन जोर भय मिलकर राधा हरि भर अंक गह्योले ।
मुरलीधर प्रभु प्रिया प्रेमवश हँस हँस करत कलोले ॥ ४ ॥

भजन ७ ।

राधा हरि सैल करत कर थाम ॥ टेक ॥
आयेउ तंत वसंत विलोकन उचिंत समय शुभ श्याम ।
मोहन चले राधिका संग ले वन चितवन हित काम ॥ १ ॥
दाहनि ओर चलत हरि कर गह चलत किशोरी वाम ।
युगल रूप छवि देख होत मनु रति अरु काम गुलाम ॥ २ ॥
अलिकुलसंकुल बकुल निहारत अमित प्रफुल्लित आम ।
आँब गुलाब विलोक विलोकत लालमुख ललित ललाम ॥ ३ ॥
माली कुसुमहार अरु गजर नजर करत भर ठाम ।
सकल उठाय मुदितमन लेकर ललिहि पिन्हावत श्याम ॥ ४ ॥

भजन ८ ।

राधा हरि हिलमिल करत प्रसंग ॥ टेक ॥
कर सिंगार आई श्रीराधा अति मन प्रेम उमंग ।
इत प्यारे मनमोहनके तन बाढत अमित अनंग ॥ १ ॥
प्रथम अलिंगन पुन चुंबनकर बाढत अति रतिरंग ।
दृढ कुच मर्दन कर प्यारीको हँस हँस लावत अंग ॥ २ ॥
करत कोकविधि नंदकुँवर रति नवलकिशोरी संग ।
होइ रुख झूझत यौवन मत मनु छेत मदन रति जंग ॥ ३ ॥

नवलकिशोर नवलदुलही रस लेत लिपत इस ढंग ।
टुक टुक फूली कुंदकलीको रस चूसत मनु भृंग ॥ ४ ॥

भजन ९ ।

राधा हरि पौढेउ एक बिछौने ।
बामे वाम राधिका प्यारी दाहन श्याम सलोने ।
रतिश्रम थकित अलस दोउवन तन स्वेदत वसन भिजोने ॥१॥
कजरा बह्यो वदन बिखरी लट करनफूल मन मौने ।
पाटल नील कमल इकठे लख छाये मनु अलियोंने ॥ २ ॥
कुछ कुछ नींद अलसवस आवत प्रीत देत नहिं सोने ।
दर्शन चाव नींद मग रोके प्रेमभरी पलकोंने ॥ ३ ॥
राधा हार श्याम वैजंती उरझरहे उरझौने ।
यह बानक नित वसहु दास निज मुरलीके हिय कोने ॥ ४ ॥

इति ।

विज्ञापन ।

अनेक राजोंके चिकित्सक, सुश्रुतके सान्वय टीकाकार, आयुर्वेदविद्यालय दिल्लीके पूर्वपरीक्षक पं० मुरलीधरशर्मा राज-वैद्य फरुखनगरनिवासीके आरोग्यसुधाकर औषधालयमें पहले बहुत औषधोंका संग्रह रहता था पर अब वृद्धावस्थाके कारण काम घटाकर निम्न लिखित केवल छहही परीक्षासिद्ध औषधोंका काम रक्खा गया है.

१ " तुलसीवटी " मलेरिया ज्वरवादी आदी वीसों रोगो की सिद्ध दवा है तनदुरुस्तीमें नित्य खानेसे ताप प्लेग आदि नहीं होते दूधके संग चाहकाभी गुण करती है सरदी सुस्ती हटाके फुरती हाजमा बल बुद्धि बढाकर दीर्घायु करती है. दाम २०० वटीके १। रु.

२ " मूत्रशोधनी सिद्ध गुटीका " मूत्रमें पीप, रक्त, शुक्र, शर्करा पुरुषोंके प्रमेह, स्त्रियोंके प्रदर जिगर बढ जाना जिगर और गुरदेके दर्द तथा विकार सबको दूर करता है. दाम ४० गुटीकाके २ रु.

३ " नयनामृत अंजन " धुंध आदि नेत्ररोगनाशक तंनदुरुरस्तामें लगानेंसे कभी दृष्टि कम नहीं होगी. दाम १ रु. तोला.

४ " महापाचन वटी " पेटके सब रोग अजीर्ण मंदाग्नि अफारा पेटका दर्द अरुचि जी मिचलाना विषूचि सबको दूर करे. दाम ४ आ. डिबी

५ " आरोग्यसुधा " अजीर्ण विशूचि वादी पेट पसली शिर डाढके दर्दकी पीड विच्छूके काटेकी अकसीर दवा है. दाम १ रु. शीशी

६ " बृंहणचूर्ण " प्रमेह, क्षय, क्षीणता, निर्बलता, सूखी, खासी, खुश्की, स्वरभंग इत्यादिको दूर करे परम धातुपुष्टि कर्ता है. दाम १० तोलेके १॥ रु. महसूलडाक पे. ४ आ. प्रत्येक.

पत्ता—

पं० मुरलीधरशर्मा राजवैद्य
फर्रुखनगर—पंजाब.

हमारी रचित पुस्तकें।

१ " सुश्रुतसंहिता " सान्वय भाषाटीका मूल्य.... १२ रु.
२ " शारीरकखंड " वैद्यक डाक्टरी यूनानी सबके मतसे शारीरकस्थान .... १ रु.
३ " शरीरपुष्टिविधान " शरीर व धातु पुष्ट करनेकी विधि .... ६ आ.
४ " सर्वविषचिकित्सा " सर्प, विच्छु, कुत्ते आदिके विषनाशक उपाय.... .... ६ आ.
५ " डाक्टरी चिकित्सासार " डाक्टरी और वैद्यक दोनोंसे रोगोंके यत्न .... १० आ.
६ " महामारीविवेचन " प्लेगका वर्णन व यत्न ६ आ.
७ " सत्कुलाचरण " व्यवहारिक उन्नतिप्रद उपन्यास .... ६ आ.
८ " आरोग्यशिक्षा " आरोग्यता रखनेकीयुक्ति.... ४ आ.
९ " वाग्भटालंकार " संस्कृत और भाषाटीका.... १ रु.
१० "भक्तिमीमांसादर्शन" संस्कृत और भाषाटीकासहित १रु.

निवेदक
पं० मुरलीधरशर्मा राजवैद्य
फरुखनगर—पंजाब.